© 2026 आलोक बर्मन & XI • L
सभी अधिकार सुरक्षित हैं।

इस पुस्तक का कोई भाग पुन: उत्पन्न, कॉपी, संग्रहित, या किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग, या अन्यथा लेखक की पूर्व लिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता, सिवाय आलोचना, समीक्षा, या शैक्षणिक संदर्भ के लिए उपयोग किए गए संक्षिप्त उद्धरणों के।

यह पुस्तक एक आलोचनात्मक गैर-काल्पनिक कार्य है। यह ऐतिहासिक, दार्शनिक, और तार्किक दृष्टिकोण से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, और वैचारिक प्रणालियों की जांच करती है। संस्थानों, विश्वासों, या ऐतिहासिक घटनाओं के सभी संदर्भ विश्लेषण और आलोचना के लिए हैं, न कि मानहानि या उकसाने के लिए। इस पुस्तक में व्यक्त किए गए विचार केवल लेखक के हैं और किसी भी संगठन, संस्थान, सरकार, या प्राधिकरण का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

यह पुस्तक किसी भी व्यक्ति या समूह के खिलाफ नफरत, हिंसा, या भेदभाव को बढ़ावा नहीं देती है। इसका उद्देश्य आलोचनात्मक सोच, नैतिक चिंतन, और बौद्धिक स्वायत्तता को प्रोत्साहित करना है।

पेपरबैक ISBN: 978-93-5679-056-8
ईबुक ISBN: 978-93-5692-384-3 आज्ञाकारी हम, इलेवन फिफ्टी पब्लिशिंग
2

[illegible] [illegible]:
xettyee@gmail.com

अस्वीकृति

यह पुस्तक एक महत्वपूर्ण गैर-काल्पनिक कार्य है जो बौद्धिक, दार्शनिक और शैक्षिक उद्देश्यों के लिए है। यह मानव व्यवहार, सामाजिक प्रणालियों, संस्थानों, विचारधाराओं और ऐतिहासिक घटनाओं की जांच करती है, जो तर्कसंगत, विश्लेषणात्मक और साक्ष्य-आधारित दृष्टिकोणों के माध्यम से होती है। यहां प्रस्तुत चर्चाएं शक्ति, आज्ञाकारिता, प्राधिकरण और विश्वास प्रणालियों की संरचनाओं पर केंद्रित हैं, न कि व्यक्तियों या व्यक्तिगत पहचान पर।
धर्म, राष्ट्रवाद, पूंजीवाद, सरकारों, कानूनों, संस्थानों, संस्कृतियों, या ऐतिहासिक घटनाओं के सभी संदर्भों को सख्ती से एक आलोचनात्मक और शैक्षणिक संदर्भ में बनाया गया है। उद्देश्य यह विश्लेषण करना है कि प्रणालियाँ कैसे कार्य करती हैं, आज्ञाकारिता कैसे उत्पन्न और बनाए रखी जाती है, और कैसे नैतिक जिम्मेदारी अक्सर व्यक्तियों से प्राधिकरण की ओर स्थानांतरित की जाती है। इन संदर्भों को किसी भी व्यक्ति, समुदाय, या समूह के खिलाफ व्यक्तिगत हमलों, मानहानि, या लक्षित आरोपों के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए।
यह पुस्तक हिंसा, नफरत, भेदभाव या किसी भी प्रकार की हानि का समर्थन नहीं करती है। यह अवैध गतिविधियों, विद्रोह या नागरिक अशांति को प्रोत्साहित नहीं करती है। इसके बजाय, यह आलोचनात्मक सोच, नैतिक जागरूकता, बौद्धिक स्वायत्तता और सामाजिक

व्यवस्था और मानव व्यवहार के मूलभूत पहलुओं की शांतिपूर्ण जांच को बढ़ावा देती है।
इस पुस्तक में व्यक्त किए गए विचार और व्याख्याएँ केवल लेखक के हैं और किसी भी संगठन, संस्थान, सरकार, धार्मिक निकाय, राजनीतिक पार्टी, या वैचारिक समूह के विचारों, विश्वासों या स्थितियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। पाठकों को सामग्री के साथ विचारशीलता, संदेह और

5

स्वतंत्र रूप से, और अपने निष्कर्षों को बनाने के लिए कई स्रोतों से परामर्श करने के लिए।
इस पुस्तक में चर्चा किए गए ऐतिहासिक उदाहरण और केस अध्ययन व्यापक प्रणालीगत पैटर्न और मनोवैज्ञानिक तंत्रों को स्पष्ट करने के लिए उपयोग किए जाते हैं। जबकि सटीकता सुनिश्चित करने के लिए हर संभव प्रयास किया गया है, लेखक पूर्णता या त्रुटिहीनता का दावा नहीं करता है। कोई भी त्रुटियाँ या चूक अनजाने में हैं और भविष्य के संस्करणों में सुधार के अधीन हैं। यह पुस्तक व्यापक रूप से स्वीकृत कथाओं और विश्वासों को चुनौती देती है। ऐसी चुनौतियाँ असुविधा या असहमति पैदा कर सकती हैं। वह असुविधा उद्देश्य नहीं है, बल्कि गहराई से निहित धारणाओं का सामना करने का एक संभावित परिणाम है। पाठकों को प्रस्तुत किए गए तर्कों से असहमत होने की स्वतंत्रता है और उन्हें भावनात्मक प्रतिक्रिया के बजाय तर्कसंगत संवाद के माध्यम से ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।
इस पुस्तक में कुछ भी पेशेवर कानूनी, चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक, या वित्तीय सलाह के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। सामग्री किसी विशेष क्षेत्र में पेशेवर परामर्श का विकल्प नहीं है।
इस पुस्तक को पढ़कर, पाठक यह स्वीकार करता है कि प्रस्तुत विचार, आलोचनाएँ, और तर्क मानव समाज की एक निरंतर बौद्धिक खोज का हिस्सा हैं और इन्हें उस संदर्भ में समझा जाना चाहिए। व्याख्या की अंतिम जिम्मेदारी पाठक पर होती है।

“हम नियमों को विरासत में लेते हैं पहले, फिर हम तर्क को विरासत में लेते हैं।”
— आलोक बर्मन

7

विषय सूची

अस्वीकृति 3-4
EPIGRAPH 5-6
परिचय 7-9

संरचितआज्ञाकारिता 10-31

क्यों राजनीतिक पार्टी कभी नहीं SERVE 32-76 CRITIQUE OF पूंजीवाद 77-110
उपभोक्तावाद 111-130
जब विश्वास बनता है A पिंजरा 131-144
CRITIQUE OF राष्ट्रीयता 145-160
कानून 161-177
नैतिकता 178-183
पहचान औरगर्व 184-204
प्रचार 205-219
दर्पण के बाददर्पण 220-222

परिचय
हम जिस सामाजिक दुनिया में रहते हैं, उसे शायद ही कभी 'निर्मित वास्तविकता' के रूप में देखा जाता है। कानून, शिक्षा, काम, परिवार, राज्य और अर्थव्यवस्था अपने आप को प्राकृतिक, अनिवार्य और सवालात से परे प्रस्तुत करते हैं। ये संरचनाएँ ऐतिहासिक प्रक्रियाओं या शक्ति संबंधों के उत्पाद के रूप में प्रकट होने के बजाय “सामान्य जीवन” का हिस्सा बन जाती हैं। समय के साथ, ये इतनी परिचित हो जाती हैं कि उनकी उपस्थिति दृष्टि से गायब हो जाती है— और यह अदृश्यता उनकी सबसे बड़ी ताकत बन जाती है। यह प्रशिक्षण बचपन में शुरू होता है। व्यक्तियों को यह सिखाया जाता है कि कैसे सोचना है, कैसे व्यवहार करना है, कैसे अनुशासन का पालन करना है, कैसे प्राधिकरण का सम्मान करना है, और सफलता को कैसे परिभाषित करना है। शिक्षा, अनुशासन और प्रगति के नाम पर, एक ढांचा आंतरिक रूप से ग्रहण किया जाता है जिसमें समायोजन को परिपक्वता और आज्ञाकारिता को जिम्मेदारी के रूप में समझा जाता है। फिर भी एक बुनियादी प्रश्न शायद ही कभी पूछा जाता है: "इन संरचनाओं का अंततः किसके हित में कार्य होता है, और किसकी कीमत पर?"
‘आज्ञाकारी हम’ न तो एक घोषणापत्र है और न ही सुधार का मार्गदर्शक। यह एक विचारधारा का निर्धारण नहीं करता, न ही यह समाधान प्रदान करने का दावा करता है। यह एक अवलोकन है। यह पुस्तक उन अदृश्य संरचनाओं की जांच करती है जो आधुनिक समाज को व्यवस्थित करती 9

हैं जबकि ये अधिकांशतः सवालात से परे रहती हैं। आज्ञाकारिता को यहाँ व्यक्तिगत विफलता या नैतिक कमजोरी के रूप में नहीं, बल्कि एक "संविधानिक स्थिति" के रूप में देखा जाता है—जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के माध्यम से उत्पन्न होती है।
अधिकांश लोग आज्ञा का पालन नहीं करते क्योंकि उनमें प्रतिरोध करने की क्षमता की कमी है, बल्कि इसलिए कि आज्ञाकारिता जीवित रहने से जुड़ी होती है। रोजगार, आय, आवास, शिक्षा, वैधता, और सामाजिक वैधता सभी अनुपालन से जुड़े होते हैं। प्रणाली के खिलाफ जाना केवल

असहमत होना नहीं है; यह अक्सर अस्थिरता, बहिष्कार, और असुरक्षा के जोखिम को शामिल करता है। इस संदर्भ में, आज्ञाकारिता एक सचेत विकल्प के रूप में कम और एक थोपे गए स्थिति के रूप में अधिक दिखाई देती है।

इस पुस्तक के केंद्र में एक सरल लेकिन अस्थिर करने वाला प्रश्न है: "क्या मानव वास्तव में स्वतंत्र इच्छा के साथ जीते हैं, या वे ऐसे ढांचों के भीतर रहते हैं जिनमें उनके अधिकांश विकल्प पहले से ही संरचित हो चुके हैं?"

आधुनिक समाज स्वतंत्रता, विकल्प और व्यक्तिगतता को मूल मूल्यों के रूप में मनाते हैं। व्यक्तियों को बताया जाता है कि वे अपने जीवन के आर्किटेक्ट हैं। फिर भी, निकटता से जांच करने पर पता चलता है कि विकल्प केवल एक सीमित, पूर्व-स्वीकृत सीमा के भीतर मौजूद हैं। प्रणाली विकल्पों को परिभाषित करती है; व्यक्ति केवल उनके बीच चयन करता है। इस तरह, विकल्प एक उपकरण बन जाता है—स्वतंत्रता का भ्रम पैदा करते हुए जबकि संरचना को स्वयं अदृश्य बना देता है।

इस प्रक्रिया के माध्यम से, जिम्मेदारी व्यक्ति पर स्थानांतरित हो जाती है। असफलता व्यक्तिगत रूप से प्रकट होती है न कि संरचनात्मक रूप से। सफलता को योग्यता का परिणाम माना जाता है न कि परिस्थितियों का। प्रणाली अपनी सीमाओं को छिपाती है और व्यक्तियों को इसके भीतर अपनी स्थिति के लिए जिम्मेदार ठहराती है। स्वतंत्रता की कथा शक्ति को छुपाती है।

'Obediently We' यह दिखाने का प्रयास करता है कि शक्ति बिना निरंतर बल प्रयोग के कैसे कार्य करती है। आधुनिक नियंत्रण प्रणालियाँ सीधे हिंसा पर कम और आर्थिक असुरक्षा, निर्भरता, सामाजिक स्वीकृति, नैतिक शर्तों, और स्थिरता के वादे के डर पर अधिक

निर्भर करती हैं। समय के साथ, व्यक्ति आत्म-नियमन करना शुरू कर देते हैं—अपने भाषण, महत्वाकांक्षाओं, और अपेक्षाओं को प्रणाली के अनुसार समायोजित करते हैं। जब आज्ञाकारिता आदत बन जाती है, तो प्राधिकरण अदृश्य हो जाता है।
इस पुस्तक का ध्यान व्यक्तियों या संस्थानों पर नहीं, बल्कि "संरचनाओं" पर है—वे पैटर्न जो विचार, व्यवहार और अर्थ को आकार देते हैं, और फिर "सामान्य ज्ञान" के रूप में प्रस्तुत होते हैं। यह पुस्तक उन संरचनाओं की अनुमानित अनिवार्यता पर सवाल उठाती है।

महत्वपूर्ण रूप से, 'आज्ञाकारी हम' कोई समाधान नहीं प्रदान करता। क्योंकि समाधान प्रदान करना अक्सर एक नए सिस्टम—एक नई विचारधारा, आज्ञाकारिता का एक नया रूप—का निर्माण करता है। इस पुस्तक का कार्य निर्धारित करना नहीं है, बल्कि उजागर करना है। यह पाठक के सामने एक दर्पण रखता है और व्याख्या उनके हाथ में छोड़ देता है।

संरचित आज्ञाकारिता
क्या मानव वास्तव में स्वतंत्र इच्छा से जीते हैं या सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं द्वारा आकारित आज्ञाकारिता के ढांचे के भीतर कार्य करते हैं, यह प्रश्न आधुनिक दार्शनिक जांच का केंद्रीय विषय बना हुआ है। सतही स्तर पर, मानव जीवन स्वतंत्रता द्वारा शासित प्रतीत होता है: व्यक्ति विकल्प बनाते हैं, जीवन के मार्ग चुनते हैं, और अपने निर्णयों के परिणामों के लिए जिम्मेदारी स्वीकार करते हैं। हालाँकि, एक गहरे विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि जो कुछ भी स्वतंत्र विकल्प के रूप में देखा जाता है, वह वास्तव में संरचित आज्ञाकारिता है — ऐसा व्यवहार जो उन बलों द्वारा नियंत्रित होता है जो मुख्यतः व्यक्तिगत नियंत्रण से परे कार्य करते हैं।
जिस दुनिया में एक व्यक्ति का जन्म होता है, वह संभावनाओं के लिए एक तटस्थ या खुला क्षेत्र नहीं है। जन्म से ही, व्यक्ति एक ऐसी वास्तविकता में प्रवेश करते हैं जो पहले से ही कानूनी प्रणालियों, आर्थिक संबंधों, शैक्षिक संस्थानों, सांस्कृतिक मानदंडों, धार्मिक परंपराओं, भाषाई ढांचों और राजनीतिक सीमाओं द्वारा व्यवस्थित है। इनमें से कोई भी बुनियादी संरचना चुनी नहीं गई है; ये विरासत में मिली हैं। ये प्रणालियाँ केवल व्यक्ति के चारों ओर मौजूद नहीं हैं, बल्कि सक्रिय रूप से धारणा, इच्छा, व्यवहार और संभावित क्रियाओं की सीमा

को आकार देती हैं। परिणामस्वरूप, निर्णय कभी भी अलगाव में नहीं किए जाते; वे पहले से स्थापित और सामाजिक रूप से मजबूत की गई सीमाओं के भीतर होते हैं।
ऐसे हालात में, आज्ञाकारिता सामान्य हो जाती है और अक्सर अदृश्य होती है। व्यक्ति मानते हैं कि वे स्वतंत्रता का अभ्यास कर रहे हैं, फिर भी उनके लिए उपलब्ध विकल्प पहले से ही छांटे, रैंक किए गए हैं,

और संरचनात्मक सीमाओं द्वारा सीमित। आधुनिक दुनिया में, मानव अस्तित्व इसलिए स्वायत्त आत्म-निर्धारण द्वारा मुख्य रूप से परिभाषित नहीं होता, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक ढांचों के भीतर निरंतर बातचीत द्वारा होता है जो अवसर और कल्पना दोनों को सूक्ष्मता से नियंत्रित करते हैं। इस संदर्भ में, स्वतंत्र इच्छा एक निरपेक्ष स्थिति के रूप में कम और शक्ति और संगठन के विरासत में मिले प्रणालियों द्वारा आकारित एक सीमित अनुभव के रूप में अधिक कार्य करती है।
एक व्यक्ति एक ऐसे दुनिया में खुद को पाता है जहाँ जीवन के प्रमुख पैरामीटर जैसे जन्म स्थान, भाषा, वर्ग, आर्थिक स्थिति, शिक्षा, और पहचान—पहले से ही निर्धारित होते हैं, यहाँ तक कि किसी भी सचेत विकल्प के बनने से पहले। इस संदर्भ में, स्वतंत्र इच्छा का विचार एक दार्शनिक पहेली बन जाता है: क्या एक व्यक्ति वास्तव में स्वतंत्र इच्छा रखता है, या यह केवल आज्ञाकारिता की संरचनाओं के भीतर काम करने वाला एक भ्रांति है? पारंपरिक रूप से, स्वतंत्र इच्छा इस विचार पर आधारित रही है कि व्यक्ति स्वतंत्र और तर्कसंगत रूप से निर्णय ले सकते हैं। हालाँकि, जब हम वास्तविक दुनिया की परिस्थितियों की जांच करते हैं, तो यह धारणा गहराई से समस्याग्रस्त प्रतीत होती है।
एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, काम करना जीवित रहने के लिए एक मजबूरी बन जाता है; राजनीतिक प्रणालियों के भीतर, नियमों और कानूनों का पालन अक्सर दंड के डर से प्रेरित होता है; और सामाजिक मानदंड विचलन को अलग करते हैं या कलंकित करते हैं। ऐसे हालात में, एक व्यक्ति के "चुनाव" ज्यादातर सीमित चुनाव होते हैं—उपलब्ध विकल्प केवल वे होते

हैं जो प्रणाली द्वारा अनुमत होते हैं। इस अर्थ में, स्वतंत्र इच्छा पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है बल्कि एक सीमित स्थान है, जो पूरी तरह से आज्ञाकारिता के ढांचे के भीतर मौजूद है। न्यूरोसाइंस और संज्ञानात्मक मनोविज्ञान पारंपरिक स्वतंत्र इच्छा के सिद्धांत को और चुनौती देते हैं। कई अध्ययन सुझाव देते हैं कि मानव मस्तिष्क निर्णयों को न्यूरल स्तर पर शुरू करता है इससे पहले कि वे सचेत रूप से महसूस किए जाएं। चेतना अक्सर बाद में एक कथा का निर्माण करती है—"मैंने यह चुना।" इस दृष्टिकोण से, एक व्यक्ति की एजेंसी की भावना बड़े पैमाने पर एक पूर्व-निर्धारित औचित्य है।

विचार, इच्छाएँ, और आवेग व्यक्तियों द्वारा सचेत रूप से नहीं चुने जाते; ये जैविक स्थिति, पिछले अनुभवों, और पर्यावरणीय उत्तेजनाओं से उभरते हैं। जन्म से, मानव जीवन कई संरचनाओं के भीतर निहित होता है। परिवार, समाज, धर्म, राज्य, भाषा, अर्थव्यवस्था, और शिक्षा—ये सभी प्रणालियाँ व्यवहार, मूल्यों, और विचारों को आकार देती हैं। इस प्रकार की आज्ञाकारिता को संरचित आज्ञाकारिता के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह स्पष्ट दासता नहीं है, बल्कि अदृश्य अनुशासन है। व्यक्ति इसे आदेश के रूप में भी नहीं पहचानता; इसके बजाय, इसे "प्राकृतिक" के रूप में देखा जाता है।
ये आधुनिक समाज की कुछ प्रणालियाँ हैं जो मानव beings के भीतर स्वामित्व के आवेगों को सक्रिय रूप से बढ़ाती हैं—ऐसे आवेग जो अंततः मानवता के लिए हानिकारक होते हैं। ये नियंत्रण, स्वामित्व, प्रतिस्पर्धा, और अनुरूपता को सामान्य बनाते हैं, अक्सर सहानुभूति, स्वायत्तता, और सामूहिक कल्याण की कीमत पर।
1.आर्थिक दबाव और आज्ञाकारिता
2.कानूनी और राजनीतिक संरचनाएँ
3.सामाजिक दबाव और सम्मान और शर्म की राजनीति 4.नैतिकता का निर्माण
5.धार्मिक आज्ञाकारिता
6.राष्ट्रीयता और पहचान राजनीति
7.शिक्षा के माध्यम से अनुशासन में प्रशिक्षण 8.भाषा और विचार के बीच संबंध
9.परिवार के भीतर आज्ञाकारिता
10. लिंग भूमिकाएँ
11. प्रेम और विवाह में अनुशासन
12. मीडिया और एल्गोरिदम द्वारा आकारित और

नियंत्रित प्राथमिकताएँ, अन्य बातों के साथ, मैं अगले अध्यायों में आधुनिक समाज के कुछ केंद्रीय स्तंभों की विस्तार से जांच करूंगा। ये स्तंभ अक्सर प्राकृतिक, आवश्यक, या यहां तक कि लाभकारी के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

नीचे, मैं संरचित आज्ञाकारिता के परिणामों के कई उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। जब हम इतिहास का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं, तो ये परिणाम स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।
जब भी इतिहास के दौरान किसी भूमि पर सीमाएँ खींची जाती हैं, तो केवल मानचित्र ही नहीं बदलते— जीवन भी उनके साथ बदलते हैं। भूमि अचानक “विदेशी” बन जाती है, देश एक रात में बदल जाते हैं, और पड़ोसी दुश्मन घोषित कर दिए जाते हैं। इस पूरे प्रक्रिया में, न तो राजा, न नेता, और न ही सत्ता में लोग कभी साधारण लोगों से पूछते हैं कि वे क्या चाहते हैं। फिर भी, वही लोग परिणामों को सहन करने के लिए मजबूर होते हैं। उन्हें अपने घर, अपनी मिट्टी, अपनी यादें छोड़ने और भागने के लिए मजबूर किया जाता है। शीर्ष पर खेली जाने वाली शक्ति के खेल में, मरने वाले कभी- कभी राजा या नेता नहीं होते—जो मरते हैं वे हमेशा साधारण लोग होते हैं, जैसे आप और मैं।
इतिहास हजारों ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है जहाँ युद्धों, विभाजनों, दंगों, या राजनीतिक निर्णयों की कीमत केवल आम लोगों द्वारा चुकाई गई है। फिर भी, अजीब बात यह है कि इतिहास अक्सर हमें इन घटनाओं को केवल “घटनाओं” के रूप में पढ़ना सिखाता है। हमें तिथियाँ याद करने, संधियों के नाम दोहराने, और शासकों और विजेताओं की सूचियों का अध्ययन करने के लिए मजबूर किया जाता है। यह कभी-कभी स्पष्ट नहीं किया जाता कि हर युग में आम व्यक्ति ही क्यों कुचला जाता है। अधिकांश लोग बिना किसी व्यक्तिगत दोष के सजा क्यों भुगतते हैं? और कुछ लोग हर प्रणाली, हर संकट, और हर परिवर्तन के माध्यम से शीर्ष पर क्यों बने रहते हैं?
यहाँ एक कड़वी सत्यता प्रकट होती है। मनुष्य इस

विश्वास के साथ जीते हैं कि उनके जीवन उनके अपने निर्णयों का परिणाम हैं। लेकिन इतिहास बार-बार दिखाता है कि सबसे निर्णायक विकल्प व्यक्ति के जन्म से बहुत पहले ही बनाए जाते हैं। कोई भी बच्चा अपने जन्म का देश, जिस परिवार में वह पैदा होता है, या जिस सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में वह अपनी आँखें खोलता है, का चुनाव नहीं करता। फिर भी, ये प्रारंभिक परिस्थितियाँ निर्धारित करती हैं कि उन्हें कितनी दूर जाने की अनुमति दी जाएगी।

कुछ ऐसे वातावरण में पैदा होते हैं जहाँ गलतियाँ करना भी स्वीकार्य है—जहाँ असफलता को सीखने के रूप में देखा जाता है। अन्य ऐसे परिस्थितियों में पैदा होते हैं जहाँ सही करने पर भी सजा मिलती है। यही कारण है कि मेहनत के पुरस्कार सभी के लिए समान नहीं होते। फिर भी, इस असमानता को स्वीकार करने के बजाय, समाज एक सुविधाजनक कथा बनाता है—कि सब कुछ केवल प्रयास के माध्यम से प्राप्त किया जाता है।
यह कथा लोकप्रिय है क्योंकि यह प्रणाली को स्थिर रखती है। गरीबों को बताया जाता है कि वे कमजोर हैं, कि उन्होंने पर्याप्त प्रयास नहीं किया। अमीरों को बताया जाता है कि वे सक्षम हैं, कि उनकी सफलता पूरी तरह से योग्यता का परिणाम है। हालांकि, सच्चाई यह है कि दोनों अपने-अपने स्थानों पर पैदा हुए थे—एक ऐसे स्थान पर जहाँ अवसर मौजूद थे, और दूसरा ऐसे स्थान पर जहाँ अवसर अनुपस्थित थे।
यदि कोई व्यक्ति अपने प्रारंभिक बिंदु का चयन नहीं करता है, तो समाज सभी से समान परिणामों की अपेक्षा क्यों करता है? यदि जीवन की नींव पहले से ही रखी गई है, तो सही और गलत के मानदंड कौन तय करता है? शायद इसका उत्तर इस बात में है कि मनुष्य अपने स्वतंत्र विचार को क्या मानते हैं। वास्तव में, वह विचार उन्हें सामाजिक ढांचों और शक्ति की संरचनाओं द्वारा सिखाया जाता है।
इस प्रकार, इतिहास केवल अतीत की एक कहानी नहीं है; यह उस प्रणाली का एक दर्पण है जिसमें साधारण मानव आज भी जीवित है—एक ऐसी प्रणाली जहां निर्णय शीर्ष पर लिए जाते हैं, कीमत नीचे चुकाई जाती है, और आज्ञाकारिता को भाग्य के रूप में स्वीकार करने के लिए सिखाया जाता है।
1961 में, अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में एक

प्रयोग ने आधुनिक समाज की नैतिक समझ को हिला दिया। इस प्रयोग को सामाजिक मनोवैज्ञानिक स्टेनली मिलग्राम द्वारा डिजाइन किया गया था।
साधारण नागरिकों को भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। उन्हें बताया गया कि यह "सीखने और स्मृति" से संबंधित एक वैज्ञानिक अध्ययन है। प्रतिभागियों को "शिक्षक" की भूमिका सौंपी गई, जबकि उनके सामने बैठे व्यक्ति को "शिक्षार्थी" कहा गया। नियम था

सरल: यदि शिक्षार्थी ने किसी प्रश्न का गलत उत्तर दिया, तो शिक्षक को विद्युत झटका देना था। प्रत्येक गलत उत्तर के साथ, झटके की तीव्रता बढ़ाई जानी थी। शुरुआत में, झटके हल्के थे। हालांकि, धीरे-धीरे, वोल्टेज बढ़ाया गया। जैसे-जैसे झटके मजबूत होते गए, सामने बैठा व्यक्ति दर्द में चिल्लाने लगा, folded हाथों से विनती करने लगा, और प्रयोग को रोकने की गुहार लगाने लगा। एक निश्चित बिंदु पर, व्यक्ति ने पूरी तरह से चिल्लाना बंद कर दिया—एक चुप्पी जिसे प्रतिभागियों ने अक्सर बेहोशी या मृत्यु के रूप में व्याख्यायित किया। इसके बावजूद, प्रयोग कक्ष में उपस्थित एक व्यक्ति—एक "वैज्ञानिक" जो सफेद कोट पहने हुए था—शांतिपूर्वक बोलता रहा और केवल यही कहा: "प्रयोग की आवश्यकता है। कृपया जारी रखें।"
वह सफेद कोट कोई साधारण वस्त्र नहीं था। यह अधिकार, ज्ञान और वैधता का प्रतीक था। अधिकांश प्रतिभागियों ने असुविधा, चिंता और नैतिक हिचकिचाहट का प्रदर्शन किया। कई पसीना बहा रहे थे, उनके हाथ कांप रहे थे; कुछ ने तो विरोध भी किया। लेकिन जब उन्हें आश्वस्त किया गया कि "जिम्मेदारी आपकी नहीं है, यह प्रयोग की है," तो उन्होंने झटके देना जारी रखा।
परिणाम चौंकाने वाले थे। लगभग दो-तिहाई प्रतिभागियों ने ऐसे झटके देने तक चले गए जो संभावित रूप से घातक हो सकते थे। यह तब हुआ जब सामने वाला व्यक्ति स्पष्ट रूप से गंभीर दर्द के संकेत दिखा रहा था। बाद में, यह खुलासा हुआ कि "शिक्षार्थी" वास्तव में एक अभिनेता था, और कोई वास्तविक विद्युत झटके नहीं दिए जा रहे थे। सभी दर्द staged था।

इस प्रयोग का असली निष्कर्ष यह नहीं था कि लोग क्रूर हैं। बल्कि, यह था कि साधारण लोग, जब वैध प्राधिकरण के आदेशों के तहत कार्य करते हैं, तो वे नैतिक जिम्मेदारी से अलग हो जाते हैं। मिलग्राम ने इसे "एजेंटिक स्थिति" कहा—एक मनोवैज्ञानिक स्थिति जिसमें एक व्यक्ति अब खुद को नैतिक निर्णय लेने वाले के रूप में नहीं देखता, बल्कि केवल आदेशों को निष्पादित करने वाले उपकरण के रूप में देखता है।

इस प्रयोग ने यह प्रकट किया कि आज्ञाकारिता केवल बाहरी दबाव का परिणाम नहीं है; यह भीतर से गहराई से शर्तबद्ध होती है। जब कोई आदेश "अधिकृत" स्रोत से आता है, तो व्यक्ति अस्थायी रूप से अपने नैतिक निर्णय को निलंबित कर देते हैं। जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के बजाय, वे इसे प्राधिकरण, प्रणाली, या प्रक्रिया पर स्थानांतरित कर देते हैं।
येल प्रयोग यह दर्शाता है कि मनुष्यों को केवल शारीरिक बल के माध्यम से ही नहीं, बल्कि मानसिक संरचनाओं के माध्यम से भी अधीन किया जा सकता है। जब सोचने की जिम्मेदारी किसी और को सौंप दी जाती है, तो आज्ञाकारिता सबसे सभ्य—और सबसे खतरनाक—हिंसा का रूप बन जाती है।
समाज यह तय करता है कि क्या सही है और क्या गलत, क्या सोचने के लिए स्वीकार्य है और क्या नहीं। बचपन से, लोगों को बड़ों की आज्ञा मानने के लिए सिखाया जाता है। सवाल मत पूछो। नियम तोड़ना गलत है। धीरे- धीरे, मन आदेशों का पालन करने के लिए प्रशिक्षित हो जाता है जैसे ही उन्हें दिया जाता है—चाहे जो आदेश दे रहा हो वह सच बोल रहा हो या नहीं।
1930 के दशक में, जर्मनी एक असामान्य समाज नहीं था। वहां रहने वाले लोग साधारण मनुष्य थे—वे अपने बच्चों से प्यार करते थे, पड़ोसियों के साथ हंसते और बात करते थे, और मेहनत से अपनी आजीविका कमाते थे। वे हत्यारे या राक्षस के रूप में नहीं पैदा हुए थे। फिर भी, वही समाज इतिहास में सबसे संगठित और अमानवीय नरसंहारों में से एक का मौन गवाह बन गया।
यह विरोधाभास आधुनिक सभ्यता का सबसे भयानक प्रश्न है।
पहली विश्व युद्ध के बाद, जर्मनी एक गहरे आर्थिक, सामाजिक, और मनोवैज्ञानिक संकट से गुजर रहा था।

अपमान, बेरोजगारी, और असुरक्षा ने समाज को भीतर से खोखला कर दिया था। ऐसे माहौल में, नाजी शासन ने यहूदियों को “राष्ट्रीय दुश्मन” के रूप में प्रस्तुत किया—एक दुश्मन जो कथित तौर पर राष्ट्र को भीतर से नष्ट कर रहा था। यह दावा न तो वैज्ञानिक था और न ही तर्कसंगत; यह एक

राजनीतिक निर्माण था जो डर और झूठ पर आधारित था। लेकिन संकट में फंसा समाज तर्क नहीं खोजता—यह सरल उत्तरों की तलाश करता है, और शक्ति ने ठीक यही प्रदान किया।
राज्य की प्रचार, निर्मित जातीय विज्ञान, और राष्ट्रवादी नैतिकता के माध्यम से, यह विचार धीरे- धीरे स्थापित किया गया कि यहूदियों पर जो अन्याय किया गया वह वास्तव में अन्याय नहीं था, बल्कि एक राष्ट्रीय कर्तव्य था। अधिकांश नागरिक न तो हत्या में सक्रिय रूप से भाग लेते थे और न ही इसे खुलकर विरोध करते थे। वे दर्शक बन गए। उन्होंने सवाल नहीं पूछे—क्या ये लोग वास्तव में दुश्मन हैं? क्या एक पूरी समुदाय को अपराधी घोषित किया जा सकता है? यह चुप्पी स्वयं अपराध के लिए सबसे आवश्यक शर्त बन गई। इतिहास बाद में इसे एक अपराध के रूप में नामित करेगा—मानवता के खिलाफ एक अपराध। लेकिन उस समय, इसे कर्तव्य, आज्ञाकारिता, और नैतिक जिम्मेदारी के रूप में प्रस्तुत किया गया। यही वह बिंदु है जहां नैतिकता अपने सबसे खतरनाक रूप को प्रकट करती है—जब यह आदेशों का पालन करने के लिए एक उपकरण बन जाती है न कि सोचने के लिए।
धर्म और राज्य द्वारा निर्मित नैतिकता एक ही तंत्र के माध्यम से कार्य करती हैं। वे अक्सर सही और गलत का स्वतंत्र मूल्यांकन करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करतीं; इसके बजाय, वे यह तय करती हैं कि किसका दुख नैतिक रूप से मान्यता प्राप्त होगा और किसका दुख अदृश्य बना दिया जाएगा। जब नैतिकता सवाल पूछना बंद कर देती है, तो यह करुणा नहीं रह जाती और शक्ति की भाषा बन जाती है। नाजी जर्मनी इसका एक चरम उदाहरण है, लेकिन यह प्रवृत्ति किसी एक देश या युग तक सीमित नहीं है।

यह इतिहास हमें यह नहीं सिखाता कि “लोग स्वाभाविक रूप से बुरे होते हैं।” बल्कि, यह हमें सिखाता है कि आज्ञाकारिता, डर, और सामूहिक पहचान मिलकर साधारण मनुष्यों को अमानवीय प्रणाली में भागीदार बना सकती हैं।
1692 में, सलेम (मैसाचुसेट्स) एक छोटा, कठोर धार्मिक समुदाय था जहां जीवन के हर पहलू को ईसाई सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित किया जाता था। बीमारी, अकाल, बच्चों की मृत्यु, या कोई भी असामान्य

घटना को प्राकृतिक कारणों के माध्यम से नहीं बल्कि "दानविक प्रभाव" के माध्यम से समझाया गया। ऐसे समाज में, डर केवल एक भावना नहीं थी; यह एक सामाजिक मुद्रा थी।
कुछ किशोर लड़कियों को अजीब व्यवहार करते हुए देखा गया—आकर्षण, चिल्लाना, शरीर का कठोर होना। जब चिकित्सकों ने कोई शारीरिक कारण नहीं पाया, तो निष्कर्ष निकाला गया कि वे "जादू टोना" के प्रभाव में थीं। फिर लड़कियों से पूछा गया कि उनकी स्थिति के लिए कौन जिम्मेदार है। उन्होंने कई महिलाओं का नाम लिया—ज्यादातर वे जो समाज के किनारे पर रहती थीं: विधवाएं, गरीब, अलग-थलग, या जिन्हें सामाजिक रूप से अजीब माना जाता था।
इन आरोपों को अफवाहों के रूप में नहीं, बल्कि दिव्य संकेतों के रूप में लिया गया। अदालतों ने "स्पेक्ट्रल साक्ष्य" को स्वीकार किया—यह दावा कि आरोपी महिला की आत्मा या छाया सपनों या दृष्टियों में प्रकट हुई थी ताकि नुकसान पहुंचा सके। ऐसा साक्ष्य न तो देखा जा सकता था और न ही चुनौती दी जा सकती थी।
आरोपी महिलाओं को गिरफ्तार किया गया, महीनों तक जेल में रखा गया, अक्सर बेड़ियों में। उनसे जादूगरनी होने की स्वीकार्यता की उम्मीद की गई। जो स्वीकार कर लेती थीं, उन्हें कभी-कभी बख्शा जाता था; जो इनकार करती थीं, उन्हें दोषी घोषित किया जाता था। इस तरह, सत्य को न्याय का मानक के रूप में आज्ञाकारिता से बदल दिया गया।
सजा सार्वजनिक थी। महिलाओं को भीड़ के सामने फांसी दी गई। इस प्रक्रिया को न्याय के रूप में नहीं, बल्कि एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में प्रस्तुत किया गया—जिसके माध्यम से समाज ने अपने

आप को शुद्ध करने का दावा किया। भीड़ चुप नहीं थी; उसने प्रार्थना की, उपदेश सुने, और विश्वास किया कि वह भगवान की इच्छा को पूरा कर रही है।
सेलेम में हुई घटनाएँ किसी एक शहर या असाधारण समाज का उत्पाद नहीं थीं। 15 वीं से 18 वीं शताब्दी के बीच, "जादूगरनी शिकार" यूरोप के कई हिस्सों में फैली—जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, और स्विट्ज़रलैंड — एक संगठित सामाजिक प्रक्रिया के रूप में। ऐतिहासिक अध्ययन अनुमान लगाते हैं कि इस अवधि के दौरान पचास हजार से अधिक लोगों को

जादू टोना के लिए दंडित किया गया, जिनमें से लगभग 70 से 80 प्रतिशत महिलाएं थीं। यह आंकड़ा स्वयं यह दर्शाता है कि हिंसा आकस्मिक नहीं थी, बल्कि संरचनात्मक रूप से लक्षित थी।
इन समाजों में, "जादूगरनी" कोई रहस्यमय प्राणी नहीं थी, बल्कि एक सामाजिक श्रेणी थी—जो शक्ति, धर्म, और सामूहिक भय द्वारा निर्मित थी। जिनका सबसे अधिक शिकार किया गया, वे महिलाएं थीं जो स्वीकृत सामाजिक मानदंडों के बाहर रहती थीं। विधवाएं, जो पुरुष सुरक्षा के बिना जीवित थीं; अकेले रहने वाली महिलाएं, जिनकी स्वतंत्रता ने समाज को अस्थिर कर दिया; जड़ी-बूटियों या पारंपरिक चिकित्सा में जानकार महिलाएं, जिनका ज्ञान चर्च-नियंत्रित धार्मिक ढांचे के बाहर था; और महिलाएं जो बोलती थीं, सवाल करती थीं, या स्थापित आज्ञाकारिता के मानदंडों को स्वीकार करने से इनकार करती थीं—सभी को "संदिग्ध" माना जाता था।
यह संदेह व्यक्तिगत नहीं था बल्कि सामूहिक रूप से उत्पन्न हुआ था। धार्मिक उपदेशों, अफवाहों, और छद्म-वैज्ञानिक विश्वासों के माध्यम से, समाज को सिखाया गया कि ऐसी महिलाएं सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा थीं। परिणामस्वरूप, उन पर की गई हिंसा को हिंसा के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि सामाजिक शुद्धिकरण की प्रक्रिया के रूप में देखा गया। अदालतों ने अवैज्ञानिक साक्ष्य को वैधता दी, जैसे कि सपनों या दृष्टियों में आत्माओं का प्रकट होना, और उन्हें दिव्य संकेतों के रूप में माना।
सजा सार्वजनिक और प्रतीकात्मक थी—जिंदा जलाना, फांसी देना, या पत्थर मारकर मौत। इन दंडों का उद्देश्य केवल आरोपी को समाप्त करना नहीं था, बल्कि पूरे समाज को यह संदेश देना था कि आज्ञाकारिता

स्वयं नैतिकता है। भीड़ ने इन सजाओं को देखा—कभी प्रार्थना करते हुए, कभी चुपचाप—यह विश्वास करते हुए कि वे एक अपराध नहीं देख रहे थे, बल्कि एक नैतिक कर्तव्य को पूरा कर रहे थे।
एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस प्रक्रिया में शामिल अधिकांश लोग खुद को बुरा नहीं मानते थे। वे मानते थे कि वे आदेशों का पालन कर रहे हैं, धर्म का अनुसरण कर रहे हैं, और समाज द्वारा परिभाषित "सही" के साथ खड़े हैं।

विशेष रूप से, जिन्होंने ये दंड दिए, उन्होंने खुद को क्रूर नहीं समझा। उन्होंने कानून, धर्म और नैतिकता के अनुसार कार्य किया—या कम से कम जैसा उन्हें सिखाया गया था। यही कारण है कि सलेम की घटनाएँ केवल अंधविश्वास की कहानी नहीं हैं; वे यह दर्शाती हैं कि जब शक्ति, धर्म और भय एक-दूसरे को वैधता प्रदान करते हैं, तो समाज हत्या को भी नैतिक दायित्व के रूप में स्वीकार कर सकता है।
यह त्रासदी यह साबित नहीं करती कि उस समाज के लोग जन्म से ही क्रूर या अमानवीय थे। बल्कि, यह दिखाती है कि भय, धार्मिक विश्वास और सामाजिक दबाव मिलकर मानव विवेक को एक निश्चित ढांचे में ढाल देते हैं। जब एक विचार पीढ़ियों के माध्यम से नैतिक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे प्रश्नांकित करना स्वयं अमोरल प्रतीत होने लगता है। ऐसे हालात में, यहां तक कि हिंसा भी सद्गुण के रूप में प्रकट हो सकती है।
सलेम की घटनाएँ स्पष्ट करती हैं कि समाज अक्सर व्यक्तियों को यह भ्रांति देता है कि उनका सोच स्वतंत्र है, जबकि वास्तव में यह सामाजिक रूप से निर्मित होता है। लोग वही सोचते हैं जो उनका युग, संस्कृति और शक्ति संरचनाएँ “सामान्य” और “सही” घोषित करती हैं। यही कारण है कि इतिहास में कई ऐसे कार्य हैं जिन्हें उस समय अपराध नहीं कहा गया, बल्कि कर्तव्य माना गया।
1950 के दशक में, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद केवल एक सामाजिक प्रथा नहीं थी; यह एक प्रणाली थी जिसे औपचारिक रूप से स्थापित और कानून द्वारा लागू किया गया था। इस प्रणाली के तहत, काले लोगों के लिए अलग बसें, अलग आवासीय क्षेत्र, अलग स्कूल थे, और उनके जीवन के हर क्षेत्र में उनकी उपस्थिति सीमित

थी। उन्हें बसों के पीछे बैठने के लिए कहा जाता था, केंद्रीय शहरी क्षेत्रों में प्रवेश से रोका जाता था, और उनकी आवाज़ें राजनीतिक रूप से महत्वहीन बना दी जाती थीं। यह सब बिना लगातार स्पष्ट हिंसा के हुआ, बल्कि एक सामान्य, रोज़मर्रा की दिनचर्या के हिस्से के रूप में unfolded हुआ।
इस प्रणाली का सबसे भयानक पहलू केवल यह नहीं था कि यह अन्यायपूर्ण थी, बल्कि यह कि इसे सामान्य बना दिया गया था। अधिकांश श्वेत समुदाय के सदस्यों ने खुद को उत्पीड़क नहीं समझा। बचपन से, उन्हें सिखाया गया था कि यह प्राकृतिक क्रम है,

सही सामाजिक संतुलन है, और सभ्यता का नियम है। स्कूल, चर्च, मीडिया और कानूनी प्रणाली ने मिलकर इस विचार को वैधता प्रदान की कि त्वचा के रंग के आधार पर भेदभाव न केवल सही था, बल्कि आवश्यक भी था। पीढ़ियों तक, इस प्रणाली को बड़े पैमाने पर प्रश्नांकित नहीं किया गया। यह इस कारण नहीं था कि लोग सोचने में असमर्थ थे, बल्कि इसलिए कि प्रश्न पूछना स्वयं एक सामाजिक अपराध में बदल गया था। जो कोई भी प्रणाली को चुनौती देता था, उसे राष्ट्रविरोधी, विघटनकारी, या खतरनाक के रूप में लेबल किया जाता था। आज्ञाकारिता को नैतिकता का रूप दिया गया, जबकि असहमति को अराजकता के बराबर माना गया।
रंगभेद यह दर्शाता है कि उत्पीड़न हमेशा हिंसक रूप में नहीं आता। अक्सर, यह कानून, शिष्टाचार, और “सामान्य व्यवहार” के रूप में प्रकट होता है। जब अन्याय एक दैनिक आदत बन जाता है, तो यह दिखाई देना बंद कर देता है। लोग इसमें भाग लेते हैं, इसे दोहराते हैं, और फिर भी खुद को निर्दोष मानते हैं— क्योंकि वे बस वही कर रहे हैं जो समाज उनसे अपेक्षा करता है।
इस अर्थ में, दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद केवल नस्लीय भेदभाव की कहानी नहीं है। यह आज्ञाकारिता की कहानी है—उस मानसिक कंडीशनिंग की जिसके माध्यम से लोग यह मानने लगते हैं कि जो भी प्रणाली मौजूद है, वह सही होनी चाहिए। जब स्वतंत्र विचार सामाजिक स्वीकृति के बदले गिरवी रख दिया जाता है, तो अन्याय पीढ़ियों तक बिना प्रतिरोध के जीवित रह सकता है। इतिहास दिखाता है कि मानव beings को तलवार से नहीं, बल्कि विचारों से पराजित किया जाता है। एक बार जब मन झुक जाता है, तो शरीर उसका अनुसरण करता है—और यह सबसे

खतरनाक स्थिति है, क्योंकि एक व्यक्ति यह भी नहीं समझ सकता कि वह कब किसी और के विचारों के अनुसार जीने लगा।
यह एक गहरे प्रश्न की ओर ले जाता है: यदि हमारा सोच स्वयं पूरी तरह से हमारे हाथ में नहीं है—यदि हमारे सही और गलत का अनुभव भी हमें सिखाया जाता है— तो वास्तव में समाज में शक्ति किसके पास है? कौन तय करता है कि कौन ऊपर रहेगा और कौन नीचे धकेला जाएगा? शायद इसका उत्तर है

उस शक्ति के सामने, जिसके सामने विचार, नैतिकता और आज्ञाकारिता सभी झुकते हैं।
1943 में, बंगाल अकाल की चपेट में था। लोग सड़कों पर भूख से मर रहे थे, बच्चे अपनी माताओं की बाहों में अंतिम सांसें ले रहे थे, और बुजुर्ग चलते- चलते गिर रहे थे, फिर से उठने में असमर्थ। यह दृश्य प्राकृतिक आपदा का परिणाम नहीं था। अनाज की कोई कमी नहीं थी—गोदाम भरे हुए थे, जहाज बंदरगाहों पर खड़े थे, और बाजारों में अनाज उपलब्ध था। फिर भी आम लोगों के लिए, वह अनाज पहुंच से बाहर था।
यह अकाल बारिश की कमी के कारण नहीं था, बल्कि प्रणाली की प्राथमिकताओं के कारण था। युद्धकालीन नीतियों, जमाखोरी, निर्यात, और मूल्य नियंत्रण में विफलताओं ने अनाज को एक ऐसा वस्तु बना दिया जिसका मूल्य जनसामान्य की क्रय शक्ति से बहुत अधिक था। राज्य और बाजार दोनों ने स्वीकार किया कि कीमतें “स्वाभाविक रूप से” निर्धारित होंगी—यहां तक कि इसके परिणामस्वरूप सामूहिक मृत्यु हो। यहां, इतिहास ने एक परेशान करने वाली सच्चाई को उजागर किया: जब भूख और पैसा आमने-सामने होते हैं, तो अक्सर पैसा जीतता है।
इस त्रासदी का सबसे भयानक पहलू यह नहीं था कि लोग भूख से मर रहे थे, बल्कि यह था कि इसे कानूनी, प्रशासनिक, और नैतिक रूप से सामान्य माना गया। कोई भी खुलकर नहीं कहता, “लोगों को मरने दो,” फिर भी ऐसी नीतियां बनाए रखी गईं जो ठीक यही परिणाम उत्पन्न करती थीं। प्रशासन ने आंकड़ों की समीक्षा की, बाजार ने कीमतें तय कीं, और समाज ने इसे दुर्भाग्य के रूप में स्वीकार किया। आज्ञाकारिता एक हथियार बन गई— लोग नियमों का पालन करते रहे, भले ही स्वयं नियम ही समस्या थे।

बंगाल का अकाल यह भी दर्शाता है कि पैसा केवल मेहनत का पुरस्कार नहीं है, जैसा कि हमें बचपन से सिखाया जाता है। इतिहास दिखाता है कि पैसा अक्सर एक प्रणाली का उत्पाद होता है—कुछ द्वारा बनाए गए नियमों का, और अधिकांश द्वारा सहन किए गए। कुछ के लिए, नियम इस तरह बनाए जाते हैं कि वे हार नहीं सकते; उनके पास भंडारण, पूंजी, और राजनीतिक पहुंच होती है। हालांकि, अधिकांश के लिए, नियम इस तरह निर्धारित होते हैं

कि वे केवल जीतने का सपना देख सकते हैं—क्योंकि खेल की शर्तें पहले से ही उनके खिलाफ तय की जा चुकी हैं, इससे पहले कि यह शुरू भी हो।
1789 से पहले, फ्रांस एक गहरे आर्थिक और सामाजिक संकट में डूबा हुआ था। रोटी, आम लोगों का मुख्य भोजन, लगातार महंगी होती जा रही थी। किसान और श्रमिक दिनभर मेहनत करते थे, फिर भी उनके पेट आधे भरे रहते थे। करों का बोझ उन पर गिरता था, जबकि उनकी आय स्थिर रहती थी। भूख अब व्यक्तिगत कठिनाई नहीं थी; यह एक सामूहिक अनुभव बन गई थी।
इसके विपरीत, राजसी महलों और कुलीनता के बीच जीवन में कमी के कोई संकेत नहीं थे। दरबार में भव्य भोज जारी थे, गोदाम भरे हुए थे, और सत्ता से जुड़े लोग आर्थिक संकट से बड़े पैमाने पर सुरक्षित थे। यह असमानता केवल असमान संसाधनों के बारे में नहीं थी; यह उन विशेषाधिकारों के बारे में थी जो प्रणाली द्वारा संरक्षित थे। राज्य की संरचना ने सुनिश्चित किया कि शीर्ष पर रहने वाले सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रहें, जबकि संकट नीचे के लोगों के लिए एक स्थायी स्थिति बन गया।
जब भूख और अन्याय सहनशीलता की सीमाओं को पार कर गए, तो लोगों ने राजा और प्रणाली पर सवाल उठाना शुरू कर दिया। ये सवाल रातोंरात नहीं उभरे थे; उन्हें सदियों से दबाया गया था—करों, प्रतिनिधित्व की कमी, और सामाजिक अन्याय के बारे में सवाल। फ्रांसीसी क्रांति इस लंबे समय से दबे हुए असंतोष का विस्फोट थी। सत्ता के प्रतीक गिरे, राजतंत्र को तोड़ा गया, और “स्वतंत्रता, समानता, और भाईचारा” जैसे आदर्शों ने प्रमुखता प्राप्त की।
लेकिन इतिहास वहीं समाप्त नहीं होता। यह जल्द ही स्पष्ट हो गया कि सत्ता के रूप को बदलने से असमानता

अपने आप समाप्त नहीं होती। नए शासकों ने राजाओं की जगह ली, एक नई अभिजात वर्ग पुरानी कुलीनता के स्थान पर उभरी, और आर्थिक शक्ति फिर से

सीमित हाथों में संकेंद्रित हो गई। प्रणाली बदली, लेकिन अंतर्निहित तर्क नहीं बदला—वही तर्क जिसके माध्यम से संसाधन ऊपर की ओर बहते हैं और बोझ नीचे धकेले जाते हैं।
इस संदर्भ में, 1789 में फ्रांस केवल अतीत की कहानी नहीं है। यह एक पुनरावृत्त ऐतिहासिक पैटर्न का हिस्सा है जिसमें लोग तब तक सहन करते हैं जब तक कि जीवित रहना असंभव नहीं हो जाता। और जब वे अंततः उठते हैं, तो शक्ति स्थानांतरित होती है—लेकिन अक्सर वही खेल फिर से शुरू होता है। इतिहास इस सच्चाई को नहीं छिपाता कि समस्या केवल शासक नहीं है; समस्या वह संरचना है जो कुछ को हमेशा जीतने के लिए तैयार करती है और अधिकांश को हमेशा सहन करने के लिए।
2013 में, बांग्लादेश के सावर क्षेत्र में राणा प्लाजा नामक एक कपड़ा फैक्ट्री की इमारत ढह गई। एक हजार से अधिक श्रमिक मारे गए और हजारों अन्य घायल हो गए। ये श्रमिक प्रसिद्ध अंतरराष्ट्रीय ब्रांडों के लिए कपड़े सिलते थे—ब्रांड जिनके विज्ञापन आधुनिकता, नैतिकता और प्रगति की भाषा बोलते हैं।
जांचों ने स्पष्ट किया कि इमारत असुरक्षित थी। दीवारों में दरारें आ गई थीं। खतरे के बारे में एक दिन पहले चेतावनियाँ जारी की गई थीं। फैक्ट्री के मालिकों को इस सब के बारे में पता था। लेकिन उत्पादन रोकना लाभ में बाधा डालने के समान होता। और इसलिए, फैक्ट्री अगले दिन भी खुली रही।
श्रमिकों को भी खतरे का पता था। लेकिन उनके पास कोई वास्तविक विकल्प नहीं था। काम पर जाना उनके जीवन को जोखिम में डालना था। काम पर न जाना भूख का मतलब था। यह वह बिंदु है जहां किसी घटना को

"दुर्घटना" कहना इतिहास के प्रति बेईमानी बन जाता है। यह एक दुर्घटना नहीं थी। यह लालच और मजबूरी के बीच एक संरचनात्मक समझौता था।
यह घटना एक वैश्विक आर्थिक प्रणाली को उजागर करती है जिसमें जोखिम नीचे की ओर धकेला जाता है जबकि लाभ ऊपर की ओर खींचा जाता है। फैक्ट्री के मालिक सुरक्षित थे। ब्रांड सुरक्षित थे। उपभोक्ता सुरक्षित थे। केवल असुरक्षित वे थे जिनके हाथों ने सामान का उत्पादन किया।

समाज इसे विकास कहता है। कहा जाता है कि फैक्ट्रियाँ रोजगार उत्पन्न करती हैं। बाजार प्रगति लाते हैं। लेकिन इतिहास एक मौलिक प्रश्न पूछता है—किसके लिए प्रगति?
यदि यह विकास है, तो इसका बोझ हमेशा गरीबों के शरीर पर क्यों पड़ता है? यदि बाजार निष्पक्ष है, तो जो सबसे कठिन काम करते हैं वे सबसे सस्ते क्यों हैं?
हमें सिखाया जाता है कि कठिन परिश्रम सफलता की कुंजी है। लेकिन राणा प्लाजा दिखाता है कि श्रम और लाभ के बीच कोई सीधा संबंध नहीं है। लाभ अक्सर कठिन परिश्रम का परिणाम नहीं होता, बल्कि शक्ति, नियंत्रण और नियम बनाने की क्षमता का परिणाम होता है। कुछ के लिए, नियम इस तरह से बनाए जाते हैं कि वे लगभग जोखिम से मुक्त रहें; अधिकांश के लिए, नियम इस तरह से बनाए जाते हैं कि जोखिम जीवन की दैनिक स्थिति बन जाए।
राणा प्लाजा हमें सिखाता है कि आधुनिक दुनिया में, शोषण हमेशा डंडों और बेड़ियों के साथ नहीं आता। कभी-कभी यह रोजगार के नाम पर आता है, विकास की भाषा बोलता है, और विकल्प की अनुपस्थिति को "स्वतंत्र विकल्प" के रूप में प्रस्तुत करता है। लेकिन जब एक मानव के पास भूख या खतरे के अलावा कोई विकल्प नहीं होता, तो उनका विकल्प वास्तव में विकल्प नहीं होता—यह मजबूरी होती है।
इस संदर्भ में, राणा प्लाजा केवल एक इमारत का ढहना नहीं था। यह उस भ्रांति का ढहना था कि बाजार स्वचालित रूप से न्याय उत्पन्न करते हैं। इतिहास बार-बार दिखाता है कि जब तक प्रणाली को स्वयं प्रश्नित नहीं किया जाता, प्रगति शीर्ष पर रहने वालों के लिए सुरक्षा और नीचे रहने वालों के लिए

बलिदान बनी रहती है।
इसलिए, हर युग में, कानून किताबों में समानता की बात करते हैं, जबकि सड़कों पर का दृश्य पूरी तरह से अलग होता है। इतिहास यह स्पष्ट करता है कि गरीबी एक दुर्घटना नहीं है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे जारी रखने की अनुमति दी जाती है क्योंकि यह प्रणाली को चलाए रखती है। यदि सभी संतुष्ट होते, तो कौन आदेशों का पालन करता? यदि सभी समान होते, तो कौन शीर्ष पर बैठता?

और यहाँ एक और सवाल उठता है: अगर पैसा इतना शक्तिशाली है कि यह भूख, श्रम और न्याय को दरकिनार कर सकता है, तो इस शक्ति को कौन नियंत्रित करता है? कौन तय करता है कि पैसा कहाँ बहता है—और कहाँ सूखता है?
2001 के बाद, अमेरिका में "सुरक्षा" के नाम पर
ऐसे कानून बनाए गए जिन्होंने नागरिक जीवन की परिभाषा को मौलिक रूप से बदल दिया। पैट्रियट एक्ट जैसे कानूनों के तहत, राज्य को सामान्य लोगों की फोन कॉल, ईमेल, यात्रा और निजी गतिविधियों की निगरानी करने का अधिकार दिया गया। ये स्वतंत्रताएँ खुलकर नहीं छीनी गईं। लोगों को बताया गया कि स्वतंत्रता थोड़ी कम हो जाएगी, लेकिन इसके बदले उन्हें सुरक्षा मिलेगी।
धीरे-धीरे, यह असामान्य स्थिति सामान्य लगने लगी। नागरिकों ने अपनी गोपनीयता को सिकुड़ते हुए देखा, लेकिन डर इतना गहरा था कि प्रतिरोध कमजोर पड़ गया। शक्ति को कुछ भी छीनने के लिए बल का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं थी। उसने केवल डर को प्रदर्शित किया—और लोग स्वेच्छा से अपनी स्वतंत्रताएँ समर्पित कर दिए। यह इतिहास में पहली बार नहीं हुआ। जब भी समाज डर गए हैं, उन्होंने अपनी स्वतंत्रताओं को "अस्थायी बलिदान" के रूप में सौंप दिया है। और वह अस्थायी बलिदान अक्सर स्थायी बन गया है।
डर की राजनीति का सबसे चरम रूप युद्ध में पाया जाता है। 2003 में, अमेरिका और उसके सहयोगियों ने इराक पर हमला किया। यह दावा किया गया कि इराक के पास ऐसे सामूहिक विनाश के हथियार हैं जो पूरी दुनिया के लिए खतरा हैं। इस दावे को सरकारों, मीडिया और विशेषज्ञों द्वारा बार-बार मजबूत किया गया। सामान्य लोगों ने इसे सत्य के रूप में स्वीकार

किया। युद्ध को नैतिक, आवश्यक और रक्षात्मक के रूप में प्रस्तुत किया गया।
हालांकि, कुछ वर्षों के भीतर, यह स्पष्ट हो गया कि ऐसे हथियार कभी अस्तित्व में नहीं थे। कोई ठोस सबूत नहीं मिला। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इराकी शहर नष्ट हो चुके थे। बुनियादी ढाँचा खंडहर में था। लाखों सामान्य नागरिक मारे गए या विस्थापित हो गए थे।

यहाँ एक स्पष्ट पैटर्न उभरता है। युद्ध के बारे में निर्णय शक्ति के गलियारों में लिए जाते हैं, लेकिन उनकी कीमत सड़कों, घरों और अस्पतालों में चुकाई जाती है। बम गिराने के आदेश देने वाले सुरक्षित रहते हैं। जो मरते हैं वे लोग होते हैं जिन्होंने न तो युद्ध चुना और न ही नीति को आकार दिया। वे बस वहीं पैदा हुए थे।
इतिहास इस सत्य को बार-बार मजबूत करता है: युद्ध कभी भी उन लोगों द्वारा नहीं लड़े जाते जो उन्हें शुरू करते हैं, न ही जो उन्हें सही ठहराते हैं वे अंततः मरते हैं। शक्ति अपने आप को नैतिक के रूप में प्रस्तुत करती है। यह तय करती है कि कौन देशभक्त है और कौन गद्दार। जो सवाल पूछते हैं वे संदिग्ध बन जाते हैं। जो प्रतिरोध करते हैं उन्हें खतरनाक के रूप में लेबल किया जाता है। डर केवल एक भावनात्मक प्रतिक्रिया नहीं है; यह एक राजनीतिक उपकरण है। इसके माध्यम से, आज्ञाकारिता का निर्माण किया जाता है। मानव beings केवल हथियारों द्वारा नहीं, बल्कि नैतिकता, देशभक्ति और सुरक्षा की भाषा के माध्यम से नियंत्रित होते हैं। और जब यह नियंत्रण सफल होता है, तो शक्ति को अब हिंसा की भी आवश्यकता नहीं होती — लोग अपने आप विश्वास करने लगते हैं कि इसके निर्णय सही हैं।
1986 में, यूक्रेन के चेरनोबिल में, एक परमाणु ऊर्जा संयंत्र एक विशाल विस्फोट के बाद ढह गया। इस परियोजना को "विज्ञान की विजय" और "ऊर्जा का भविष्य" के रूप में प्रस्तुत किया गया था। यह दावा किया गया कि प्रौद्योगिकी मानवता को इसकी सीमाओं से मुक्त कर देगी। फिर भी कुछ घंटों के भीतर, पूरा क्षेत्र विषैला हो गया। हवा, पानी, मिट्टी—सब कुछ प्रदूषित हो गया।

शुरुआत में, सरकार ने चुप्पी साधी। जानकारी को रोका गया। खतरे को कम करके आंका गया। जब सच सामने आया, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। हजारों लोग विकिरण के संपर्क में आ चुके थे। लाखों को हमेशा के लिए अपने घर छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। जिन्होंने कोई नीतियाँ नहीं बनाई और न ही कोई तकनीकी निर्णय लिए, उन्होंने अपने जीवन के साथ एक प्रयोग की कीमत चुकाई।
यह पहली बार नहीं था जब "प्रगति" का सपना साधारण लोगों के लिए सजा में बदल गया। चेरनोबिल यह दर्शाता है कि तकनीकी निर्णयों के जोखिम कैसे नीचे धकेले जाते हैं, जबकि

क्रेडिट ऊपर की ओर बहता है। जब एक प्रयोग सफल होता है, तो इसे एक उपलब्धि कहा जाता है। जब यह विफल होता है, तो इसे एक दुर्घटना के रूप में लेबल किया जाता है।
1995 में, अमेरिका के शिकागो में कुछ ऐसा ही हुआ
- लेकिन बिना विस्फोट, बिना मशीनों के। उस वर्ष, शहर में एक विनाशकारी गर्मी की लहर आई। अमीर इलाकों में, एयर कंडीशनर लगातार चलते रहे। गरीब क्षेत्रों में, हजारों बुजुर्ग लोग मर गए। शहर वही था। मौसम वही था। अंतर केवल जीवन की परिस्थितियों में था। यह एक प्राकृतिक आपदा नहीं थी। यह सामाजिक असमानता का परिणाम था। जिनके पास संसाधन थे, वे बच गए। जिनके पास नहीं थे, वे मर गए। फिर भी इसे "गर्मी की लहर" के रूप में दर्ज किया गया - जैसे कि मौसम ने मौतों का कारण बना, न कि प्रणाली।
इतिहास यहाँ एक बात स्पष्ट करता है। प्रगति शायद ही कभी समान रूप से वितरित होती है, भले ही इसे सभी के नाम पर दावा किया जाता है। कहा जाता है कि समाज आगे बढ़ रहा है, जबकि वास्तव में कुछ आगे बढ़ते हैं और अन्य पीछे रह जाते हैं। और जो लोग पीछे रह जाते हैं, उनके द्वारा चुकाई गई कीमत को “सहायक क्षति” के रूप में सामान्यीकृत किया जाता है।
यह पैटर्न केवल पूंजीवादी प्रणालियों तक सीमित नहीं रहा है। सोवियत संघ भी ढह गया—जिसे कभी समानता और न्याय के सपने के रूप में वर्णित किया गया था। उपनिवेशवाद भी समाप्त हो गया—जिसे कभी सभ्यता और विकास के नाम पर सही ठहराया गया था। हर प्रणाली ने खुद को अंतिम समाधान के रूप में प्रस्तुत किया। और हर बार, कुछ समय बाद, वही दरारें फिर से प्रकट हुईं: शक्ति का संकेंद्रण, संसाधनों तक असमान पहुंच, और डर का उपयोग।

इतिहास यह नहीं कहता कि सभी प्रणालियाँ समान हैं। लेकिन यह दिखाता है कि शक्ति, लालच, और डर हर प्रणाली में किसी न किसी रूप में लौटते हैं। नाम बदलते हैं। भाषा बदलती है। तर्क बदलते हैं। लेकिन संरचना अक्सर वही रहती है।
शायद सबसे खतरनाक बात यह नहीं है कि ये सिस्टम विफल हो जाते हैं। सबसे खतरनाक बात यह है कि इन विफलताओं को देखने के बाद भी मानवता आशा नहीं छोड़ती। वे मानते हैं कि अगली

समय के साथ सब कुछ अलग होगा। यह आशा समाज को आगे बढ़ाती है—और यही आशा इसे अंधा कर देती है। क्योंकि आशा के नाम पर, सवालों को टाला जाता है। और जब सवाल नहीं पूछे जाते, तो इतिहास दोहराने लगता है।
क्या आपने कभी सोचा है - अगर किसी से कहा जाए: सब कुछ भूल जाओ
— आपका नाम, राष्ट्रीयता, पहचान, धर्म, सही और गलत की सभी परिभाषाएँ — और बस कहें कि आप कौन हैं, तो अधिकांश लोग एक पल के लिए पूरी तरह से चुप हो जाते हैं। क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में सब कुछ सीखा है, सिवाय इसके कि वे स्वयं कौन हैं। बस सोचिए — आपके चारों ओर हर स्कूल में, क्या आप हर दिन वही तस्वीर नहीं देखते? सैकड़ों बच्चे, समान वर्दियाँ, समान पंक्तियाँ, समान कदम। उनकी आँखों में कोई सवाल नहीं, उनके चेहरों पर कोई जिज्ञासा नहीं। घंटी बजती है और वे सभी एक साथ अंदर जाते हैं, जैसे कच्चा माल एक फैक्ट्री में धकेल दिया गया हो। कोई नहीं पूछता कि यह बच्चा क्या बनना चाहता है। वे केवल यह जांचते हैं कि “वे कितनी अच्छी तरह से फिट हो सकते हैं।” एक माँ अपने बच्चे से कहती है, “बहुत सारे सवाल मत पूछो,
लोग आपको अजीब पाएंगे।” माँ बुरी नहीं है - उसे भी यही सिखाया गया था। उसे भी कभी नहीं सिखाया गया कि सवाल पूछना गलत नहीं है, कि सवालों को रोकना वास्तव में कहीं अधिक खतरनाक है। धीरे-धीरे बच्चा समझता है कि चुप्पी सबसे सुरक्षित स्थान है। वहीं से उसकी असली शिक्षा शुरू होती है।
एक दिन वही बच्चा बड़ा होता है और किसी समारोह में बैठता है। मंच पर कोई घोषणा करता है, “एक अच्छा व्यक्ति वह है जो नियमों का पालन करता है।” पूरा

हॉल ताली बजाता है। कोई नहीं सोचता कि ये नियम किसने बनाए, क्यों बनाए गए, और किसके लाभ के लिए।
ताली बजाना आसान है; सोचना भारी है। समाज चालाक है। यह लोगों पर बेड़ियाँ नहीं डालता - यह उन पर आदतें डालता है।
फिर उन्हें नाम देता है - परंपरा, संस्कृति, शिष्टता। और इंसान मानते हैं कि जो हमेशा हुआ है, वह सही होना चाहिए। कोई उन्हें नहीं बताता कि गलत चीजें भी पीढ़ियों के माध्यम से यात्रा करती हैं। जिसे सबसे अधिक याद रहता है, उसे बुद्धिमान कहा जाता है।

जो चुपचाप आज्ञा मानता है, उसे सभ्य कहा जाता है। जो अलग सोचता है, उसे खोया हुआ कहा जाता है। और अंततः, वह व्यक्ति भी सीखता है कि भीड़ से अलग खड़ा होना शायद ही कभी सुरक्षित होता है।
बस कल्पना कीजिए, एक गाँव में, एक आदमी अपने खेत में एक नई विधि आजमाना चाहता है। दो लोग हंसते हैं और कहते हैं, “हमारे पिता और दादा ने कभी ऐसा नहीं किया।” आदमी चुप हो जाता है - न कि इसलिए कि उसकी विधि गलत थी, बल्कि इसलिए कि अकेले होने का डर बड़ा था। यही समाज की सबसे बड़ी ताकत है। यह मना नहीं करता - यह डराता है। अलग होने का डर, सवाल पूछने का डर, बस खुद होने का डर। और धीरे-धीरे एक व्यक्ति ठीक वही बन जाता है जो उनसे अपेक्षित था। वे महसूस करते हैं कि यह उनका अपना चुनाव था, हालाँकि चुनाव करने की आदत बहुत पहले छीन ली गई थी। समाज चाहता है कि लोग काम करें, लेकिन सवाल न करें - जो आज्ञा मानें, लेकिन जांच न करें। लेकिन फिर अंदर एक खालीपन क्यों बना रहता है?
क्यों वह बेचैनी बार-बार उठती है कि यहाँ कुछ भी वास्तव में मेरा नहीं है? शायद इसलिए क्योंकि एक व्यक्ति को कभी भी बिना सभी उधार के परतों के खुद से मिलने का मौका नहीं दिया जाता। कल्पना कीजिए, एक अदालत में एक आदमी खड़ा है। उसने किसी को नहीं मारा, किसी को नहीं लूटा, किसी से कुछ नहीं छीना। फिर भी उसे सजा दी जाती है - क्योंकि उसने “कानून” के खिलाफ गया। कानून - जिसे न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है - फिर भी किसी के पूरे जीवन का निर्णय करता है। हमारी दुनिया ऐसी अदृश्य शक्तियों से भरी हुई है - धर्म, नैतिकता, प्रतिष्ठा, परंपरा। इन्हें नहीं देखा जा सकता, फिर भी ये जीवन पर ऐसे दबाव डालती हैं जैसे वे हमारे सामने खड़ी हों।

एक बूढ़ा आदमी हर दिन मंदिर जाता है। वह कुछ नहीं मांगता - वह बस डर के मारे अपने हाथ जोड़ता है, डरता है कि कुछ गलत न हो जाए। समाज ने बाहरी मालिकों को मन के अंदर के मालिकों से बदल दिया है। अब इंसान राजाओं से नहीं डरते, वे अपने ही विचारों से डरते हैं - “यह सोचना सही नहीं है, यह इच्छा गलत है, यह ख्वाहिश पाप है।” सबसे खतरनाक शासक वे अदृश्य होते हैं जिन्हें पवित्र घोषित किया गया है।

बचपन से, समाज हमें सिखाता है: आदेशों का पालन करो, सवाल मत पूछो, नियम तोड़ना गलत है। धीरे-धीरे, मन आज्ञाकारिता का आदी हो जाता है, चाहे प्राधिकरण सत्य बोल रहा हो या झूठ। यही मानसिक ढांचा है जिसने विभिन्न युगों में लोगों को शक्ति, धर्म, राष्ट्र या बाजार के नाम पर हिंसा को “कर्तव्य” मानने के लिए प्रेरित किया है।
इतिहास यह स्पष्ट करता है कि इंसान को तलवार से कम और विचारों से अधिक जीता जाता है। एक बार जब मन झुक जाता है, तो शरीर स्वचालित रूप से अनुसरण करता है - और यह सबसे खतरनाक स्थिति है, क्योंकि व्यक्ति यह भी नहीं समझ पाता कि कब वे किसी और के थोपे गए विचारों के अनुसार जी रहे हैं।
यह सवाल उठता है - यदि विचारों को नियंत्रित किया जा सकता है, यदि अवसर जन्म से पूर्वनिर्धारित हैं, यदि धन और असमानता संरचनात्मक हैं - तो शक्ति वास्तव में किसके हितों की सेवा करती है?

क्यों राजनीतिक शक्ति कभी सेवा नहीं करती
शक्ति कोई आधुनिक आविष्कार नहीं है; यह मानव इतिहास के समान पुरानी है। शक्ति तब उभरी जब मानव समूहों में जीना शुरू किया। इसका उद्गम किसी नैतिक आदर्श में नहीं, बल्कि संसाधनों पर नियंत्रण, सुरक्षा और आदेश की आवश्यकता में था। ऐतिहासिक जांच यह स्पष्ट करती है: शक्ति की मौलिक तर्कशक्ति कभी नहीं बदली है—केवल इसके रूप बदले हैं। राजतंत्र, साम्राज्य, उपनिवेशी शासन, राष्ट्र-राज्य, और लोकतंत्र संरचना और भाषा में भिन्न हैं, फिर भी शक्ति का केंद्रीय उद्देश्य स्थिर रहा है: अपने आप को बनाए रखना।
शक्ति की समस्या इसलिए केवल एक समकालीन राजनीतिक बहस नहीं है। यह मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से अस्तित्व में है। शक्ति की उत्पत्ति को समझने के लिए, किसी को राष्ट्र-राज्य, संविधान या आधुनिक लोकतंत्र से बहुत आगे जाना होगा और प्रागैतिहासिक मानव समाजों की ओर लौटना होगा। यह केवल अतीत की यात्रा नहीं है, बल्कि वर्तमान शक्ति संरचनाओं की जड़ों को खोजने का प्रयास है। प्रागैतिहासिक काल में, मानव समुदाय मुख्य रूप से शिकारी-इकट्ठा करने वाले थे—छोटे, गतिशील समूह जिनकी जीविका सीधे प्रकृति पर निर्भर करती थी। इस चरण में, शक्ति औपचारिक नहीं थी। कोई स्थायी शासक नहीं थे और न ही संस्थागत शासन था। निर्णय मुख्य रूप से सामूहिक थे, जो जीवित रहने के लिए सहयोग की आवश्यकताओं द्वारा आकारित होते थे। भोजन, आश्रय और सुरक्षा के लिए पूरे समूह की भागीदारी की आवश्यकता थी।

इन समाजों में, संसाधनों का संचय व्यावहारिक रूप से असंभव था। भोजन नाशवान था, और भूमि निजी स्वामित्व में नहीं थी। परिणामस्वरूप, सामाजिक असमानता सीमित रही। नेतृत्व अस्थायी और परिस्थितिजन्य था—एक व्यक्ति शिकार का मार्गदर्शन कर सकता था, जबकि दूसरा संकट के दौरान नेतृत्व कर सकता था। ऐसा नेतृत्व प्रभुत्व के बजाय जिम्मेदारी थी।
मानवशास्त्रीय अध्ययन यह संकेत करते हैं कि ऐसी समाजों की विशेषताएँ थीं: सहमति के माध्यम से निर्णय लेना, अत्यधिक प्रभुत्व की सामाजिक हतोत्साह, केंद्रीकृत प्राधिकरण की व्यावहारिक असंभवता। शक्ति की कोई स्थायी संरचना नहीं हो सकती थी क्योंकि इसे बनाए रखने के लिए आवश्यक भौतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अभी तक मौजूद नहीं थीं। कृषि के विकास के साथ एक निर्णायक परिवर्तन हुआ। खेती ने स्थायी बस्तियों का निर्माण किया, और स्थायी बस्तियों ने संसाधनों के संचय को संभव बनाया। भूमि, अनाज, और पशुधन अस्थायी नहीं रहे और संग्रहणीय और नियंत्रित संपत्ति बन गए। यहाँ हम स्थायी शक्ति का असली जन्म देखते हैं। कृषि ने तीन मौलिक परिवर्तन उत्पन्न किए: 1. अधिशेष का निर्माण
2. निजी नियंत्रण की संभावना 3.
सामाजिक विभाजन का उदय।
जिनके पास अधिक भूमि थी, उनके पास अधिक अनाज था, और जिनके पास अधिक अनाज था, वे दूसरों पर निर्भरता थोप सकते थे। निर्भरता ने नियंत्रण उत्पन्न किया, और नियंत्रण शक्ति में बदल गया। यह किसी साजिश का परिणाम नहीं था; यह एक संरचनात्मक अनिवार्यता थी। एक बार जब संसाधन सीमित और संचय योग्य हो गए, तो उनके नियमन के लिए तंत्र आवश्यक हो गए—और जहाँ भी

नियमन प्रकट होता है, असमानता उसका अनुसरण करती है। कृषि समाजों में, सामाजिक भूमिकाएँ धीरे-धीरे विभाजित हुईं: कुछ लोग उत्पादन करते थे, कुछ रक्षा करते थे, कुछ प्रशासन करते थे।
यहां से, वर्ग संरचना विकसित हुई। उत्पादन वर्ग — मुख्य रूप से कृषक—धीरे-धीरे अधीनस्थ बन गया, जबकि

प्रशासनिक और सैन्य वर्गों का प्रभुत्व बढ़ा। अब शक्ति व्यक्तिगत प्रभाव से संस्थागत संगठन की ओर स्थानांतरित होने लगी।
यह शक्ति केवल शारीरिक बल पर आधारित नहीं थी। जैसे-जैसे समाज अधिक जटिल होते गए, शक्ति को वैधता की आवश्यकता थी—एक ऐसा औचित्य जो सामान्य प्रश्नों से परे रखा गया। मेसोपोटामिया, प्राचीन मिस्र और सिंधु घाटी के प्रारंभिक राज्यों ने राजनीतिक अधिकार को दिव्य स्वीकृति से जोड़ा। राजा केवल एक शासक नहीं था; उसे देवताओं का प्रतिनिधि— या अवतार—घोषित किया गया। यह संबंध एक निर्णायक मोड़ को चिह्नित करता है।
दिव्य वैधता ने तीन चीजें हासिल कीं:
1.इसने शक्ति को नैतिक जांच से अलग कर दिया।
2.इसने असमानता को स्वाभाविक और अपरिहार्य के रूप में प्रस्तुत किया।
3.इसने असहमति को पाप या अपवित्रता के रूप में पुनर्परिभाषित किया।
इस प्रकार, शक्ति के खिलाफ विरोध केवल एक राजनीतिक अपराध नहीं बल्कि एक धार्मिक उल्लंघन बन गया। आलोचना को दबाने के लिए, केवल क्रूर बल की आवश्यकता नहीं थी; विश्वास ही पर्याप्त था। मेसोपोटामिया में, सबसे प्रारंभिक लिखित कानूनी कोड—जैसे कि हैमरबाबी का कोड—को दिव्य उत्पत्ति का घोषित किया गया। राजा ने कानून बनाने का दावा नहीं किया; उसने केवल दिव्य इच्छा को संप्रेषित करने का दावा किया। इस प्रकार, कानून शक्ति को प्रश्न में लाने का एक उपकरण नहीं रहा और इसे उसकी रक्षा करने का एक साधन बना दिया। ये कोड समानता को लागू नहीं करते थे; वे पदानुक्रम नियंत्रण को लागू करते थे, विभिन्न सामाजिक स्तरों के लिए विभिन्न दंड निर्धारित करते थे और ऐसी असमानता को दिव्य रूप 56

से निर्धारित के रूप में प्रस्तुत करते थे। प्राचीन मिस्र में, फिरौन को मानव रूप में एक देवता माना जाता था। शक्ति और धर्म पूरी तरह से एकीकृत थे। फिरौन को चुनौती देना ब्रह्मांडीय व्यवस्था (मा’at) को बाधित करने के समान था। इस संरचना में: श्रम लोगों का था, स्मारक शक्ति के थे, महिमा देव-राजा की थी। पिरामिड केवल वास्तुशिल्प उपलब्धियां नहीं थीं; वे शक्ति के स्थायी प्रतीक थे — यह घोषणा करने के लिए डिज़ाइन किए गए कि शक्ति नश्वर नहीं बल्कि शाश्वत थी।

सिंधु घाटी की सभ्यता कुछ अलग प्रतीत होती है, जिसमें व्यक्तिगत राजशाही या स्मारकीय महलों के कम प्रमाण हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि शक्ति का अभाव था, बल्कि यह है कि शक्ति एक अधिक प्रशासनिक और निरपेक्ष रूप में मौजूद थी। योजनाबद्ध शहर, मानकीकृत ईंटें, और उन्नत जल प्रणालियाँ केंद्रीय समन्वय और नियंत्रण का संकेत देती हैं, भले ही कम स्पष्ट रूप से पवित्रित की गई हों। इन मामलों में, एक स्पष्ट ऐतिहासिक पैटर्न उभरता है:
संसाधन →
नियंत्रण
नियंत्रण →
शक्ति शक्ति →
वैधता
वैधता → असमानता की स्वीकृति
शक्ति ने कभी केवल बल के रूप में खुद को प्रस्तुत नहीं किया है। यह लगातार भगवान, परंपरा, कानून, या व्यवस्था के रूप में प्रकट हुई है—जबकि इसका मौलिक उद्देश्य वही रहा है: अपनी स्वयं की रक्षा।
आधुनिक राजनीतिक विमर्श में, प्राचीन ग्रीस— विशेष रूप से एथेंस—को अक्सर लोकतंत्र का जन्मस्थान माना जाता है। पाठ्यपुस्तकें, विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम, और राजनीतिक भाषण बार-बार दावा करते हैं कि ग्रीस में ही साधारण लोगों ने पहली बार राजनीतिक शक्ति में भागीदारी प्राप्त की। फिर भी, यह दावा, हालांकि लोकप्रिय है, गहराई से अधूरा और भ्रामक है।
प्राचीन ग्रीस की राजनीतिक संरचनाओं की सावधानीपूर्वक और आलोचनात्मक जांच से पता चलता है कि एथेनियन "लोकतंत्र" न तो सार्वभौमिक था और न ही समावेशी, न ही यह पूरी जनसंख्या के हाथों में शक्ति

रखने का एक ईमानदार प्रयास था। बल्कि, ग्रीक लोकतंत्र शक्ति का नैतिक परिवर्तन नहीं बल्कि इसका एक रणनीतिक पुनर्गठन है।
शुरुआत करने के लिए, प्राचीन ग्रीस एक एकीकृत राष्ट्र नहीं था। इसमें सैकड़ों शहर-राज्य (पोलिस) — एथेंस, स्पार्टा, कोरिंथ, थिब्स, और कई अन्य— शामिल थे, प्रत्येक के अपने शासन प्रणाली, सामाजिक व्यवस्थाएँ, और शक्ति संबंध थे। इसलिए, "ग्रीक लोकतंत्र" एक एकल समान मॉडल नहीं था बल्कि एक

शक्ति के प्रयोग में विविध प्रयोगों का समूह था। एथेंस को विशेष महत्व इसलिए मिलता है क्योंकि वहां प्रत्यक्ष लोकतंत्र का एक प्रणाली विकसित हुई। हालांकि, महत्वपूर्ण प्रश्न है: किसके लिए लोकतंत्र? जब इसके वास्तविक सामाजिक आधारों पर जांच की जाती है, तो एथेनियन लोकतंत्र एक सीमित लोकतंत्र के रूप में प्रकट होता है। यह सार्वभौमिक अधिकारों पर आधारित नहीं था बल्कि नागरिकता की संकीर्ण परिभाषा पर आधारित था। नागरिक के रूप में कौन गिना जाता था? एथेंस में, एक नागरिक केवल वही था जो:
1.एक स्वतंत्र पुरुष था।
2.एथेंस में जन्मा था।
3.जिसके दोनों माता-पिता एथेनियन मूल के थे।
किसे बाहर रखा गया? इस परिभाषा के अनुसार, निम्नलिखित को राजनीतिक जीवन से पूरी तरह से बाहर रखा गया: महिलाएं, दास, निवासी विदेशी (मेटिक्स)। इतिहासकारों का अनुमान है कि एथेंस की कुल जनसंख्या का लगभग 80-85 प्रतिशत लोकतांत्रिक भागीदारी से बाहर था। इस प्रकार, इतनी प्रशंसा की जाने वाली लोकतंत्र केवल एक छोटे अल्पसंख्यक तक सीमित थी।
यह अक्सर माना जाता है कि एथेंस में लोकतंत्र का उदय शासकों से "लोगों" को शक्ति हस्तांतरित करने के लिए हुआ। हालाँकि, ऐतिहासिक विश्लेषण एक अलग उद्देश्य का सुझाव देता है। एथेनियन लोकतंत्र का विकास निम्नलिखित के बीच संघर्षों से हुआ: अरिस्टोक्रेटिक अभिजात वर्ग और उभरते मध्य समूह जैसे व्यापारी और सैनिक। लोकतंत्र ने शक्ति को समाप्त नहीं किया; इसने इसे पुनर्गठित किया। शक्ति केवल कुछ कुलीन परिवारों में केंद्रित नहीं रही,

बल्कि इसे एक व्यापक—लेकिन फिर भी विशेषाधिकार प्राप्त—नागरिक वर्ग के बीच साझा किया गया। यह साझा करना भी केवल उन लोगों तक सीमित रहा जो पहले से ही स्थिति और लाभ से संपन्न थे।
इस अर्थ में, एथेंस में लोकतंत्र था: पूरे जनसंख्या को सशक्त बनाने का एक प्रोजेक्ट नहीं, बल्कि शासक वर्गों के भीतर संतुलन बनाए रखने का एक तंत्र।

लोकतंत्र ने शक्ति को अधिक अदृश्य और वैध बना दिया, न कि अनिवार्य रूप से अधिक न्यायपूर्ण।
एथेनियन नागरिकों ने लोकप्रिय सभा (एक्लेसिया) में सीधे भाग लिया, जो आधुनिक प्रतिनिधि लोकतंत्रों में नहीं होता। हालाँकि, इस "प्रत्यक्षता" को अक्सर रोमांटिक किया जाता है। व्यावहारिक रूप से: नियमित भागीदारी केवल उन लोगों के लिए संभव थी जिनके पास फुर्सत और आर्थिक सुरक्षा थी, गरीब नागरिकों की उपस्थिति सीमित थी, और वाक्पटुता शक्ति का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गई। इस प्रकार लोकतंत्र ने भाषण और मनाने को प्रभुत्व के उपकरणों में बदल दिया; जो बेहतर बोलते थे, उनका प्रभाव अधिक होता था।
इसके अलावा, एथेनियन लोकतंत्र संरचनात्मक रूप से दासता पर निर्भर था। दासों की संख्या नागरिकों से अधिक थी। नागरिक राजनीतिक मामलों में समय समर्पित कर सकते थे क्योंकि: दास आवश्यक श्रम करते थे, और महिलाएँ घरेलू जिम्मेदारियों का प्रबंधन करती थीं।
इसलिए, पूरा लोकतांत्रिक ढांचा एक गैर-लोकतांत्रिक सामाजिक आधार पर निर्भर था। बिना दासता के, यह लोकतांत्रिक प्रणाली कार्य नहीं कर सकती थी। यह तथ्य अक्सर एथेनियन लोकतंत्र से जुड़े नैतिक प्रतिष्ठा को गहराई से कमजोर करता है।
यदि एथेंस लोकतंत्र के सीमित प्रयोग का प्रतिनिधित्व करता है, तो स्पार्टा शक्ति के एक अन्य रूप—सैन्यवादी ओलिगार्की—का उदाहरण प्रस्तुत करता है। स्पार्टा में: शक्ति कुछ सैन्यीकृत परिवारों में केंद्रित थी, जीवन का उद्देश्य व्यक्तिगत कल्याण नहीं बल्कि राज्य की शक्ति था, और आज्ञाकारिता सर्वोच्च गुण थी।

नागरिकों का पूरा जीवन: प्रशिक्षण, अनुशासन, युद्ध के चारों ओर व्यवस्थित था। स्पार्टा भी दासों (हेलोट्स) के शोषण पर निर्भर था, जिनका श्रम सैन्य राज्य को बनाए रखता था।
प्राचीन ग्रीक लोकतंत्र, इसलिए, एक आदर्श मॉडल नहीं था बल्कि स्पष्ट सीमाओं से चिह्नित एक ऐतिहासिक रूप से विशिष्ट प्रयोग था। इसे लोकतंत्र की शुद्ध उत्पत्ति के रूप में बिना आलोचना के प्रस्तुत करना

समकालीन राजनीतिक विमर्श न केवल बौद्धिक रूप से लापरवाह है बल्कि ऐतिहासिक रूप से भी गलत है।
रोम शक्ति की असली प्रकृति को समझने के लिए सबसे सटीक और शिक्षाप्रद उदाहरणों में से एक है। प्राचीन ग्रीस की तरह, रोम को अक्सर लोकतांत्रिक आदर्शों से जोड़ा जाता है, विशेष रूप से इसके प्रारंभिक गणतंत्र काल के कारण। हालाँकि, रोम के इतिहास का निकट से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि गणतंत्र से साम्राज्य में संक्रमण अचानक नैतिक गिरावट या तानाशाही में आकस्मिक गिरावट का परिणाम नहीं था। यह संक्रमण शक्ति की आंतरिक तर्कशक्ति और रोम प्रणाली में अंतर्निहित संरचनात्मक दबावों का स्वाभाविक परिणाम था।
रोम यह दर्शाता है कि शक्ति लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को केवल तब तक सहन करती है जब तक वे इसके विस्तार और स्थिरता में बाधा नहीं डालती। जैसे ही ऐसी प्रक्रियाएँ असुविधाजनक हो जाती हैं, उन्हें निष्क्रिय या समाप्त कर दिया जाता है। रोमन गणराज्य की स्थापना 509 ईसा पूर्व में राजतंत्र के पतन के बाद हुई। सिद्धांत रूप में, यह नागरिक भागीदारी, कानून के शासन और संस्थागत संतुलन पर आधारित एक प्रणाली थी। सीनेट, लोकप्रिय सभा और निर्वाचित मजिस्ट्रेटों ने मिलकर लोकतांत्रिक शासन का आभास उत्पन्न किया।
हालांकि, व्यावहारिक रूप से, वास्तविक शक्ति एक छोटे से संख्या के कुलीन परिवारों - पैट्रिशियनों के हाथों में केंद्रित रही। सीनेट, गणराज्य में सबसे शक्तिशाली संस्था, इस अभिजात वर्ग द्वारा दृढ़ता से नियंत्रित थी। साधारण नागरिकों, प्लेबियनों की भागीदारी सीमित थी; उनकी राजनीतिक शक्ति अधिकतर प्रतीकात्मक थी, न कि वास्तविक। यहाँ

एक महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट होता है:
रोमन गणराज्य में, लोकतंत्र शक्ति का स्रोत नहीं था; यह वह उपकरण था जिसके माध्यम से शक्ति ने वैधता का दावा किया। लंबे समय तक, रोमन सामाजिक व्यवस्था पैट्रिशियनों और प्लेबियनों के बीच संघर्ष से चिह्नित थी। यह संघर्ष

कुछ सुधार किए गए - प्लेबियन्स के लिए अधिक प्रतिनिधित्व, कुछ कानूनी अधिकार, और ट्रिब्यून का कार्यालय। फिर भी, ये सुधार शक्ति की मौलिक संरचना को नहीं बदलते थे।
उन्हें शक्ति को चुनौती देने के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक अशांति को नियंत्रित करने के लिए पेश किया गया था। यह एक पुरानी राजनीतिक रणनीति को दर्शाता है: सीमित रियायतों के माध्यम से गहरी असमानता को स्थिर करना। रोम में निर्णायक मोड़ उसके सैन्य विस्तार के साथ आया। जैसे-जैसे रोम इटली के बाहर बढ़ा, युद्ध एक स्थायी स्थिति बन गया। निरंतर युद्ध के साथ तीन प्रमुख परिवर्तन आए:
1.सेना एक अस्थायी नागरिक मिलिशिया बनना बंद कर दिया, 2.सैनिक युद्ध पर आर्थिक रूप से निर्भर हो गए,
3.जनरलों ने अत्यधिक शक्तिशाली व्यक्तियों के रूप में उभरना शुरू किया।
वफादारी धीरे-धीरे राज्य से व्यक्तिगत कमांडरों की ओर स्थानांतरित हो गई क्योंकि: वेतन, भूमि के अनुदान, और व्यक्तिगत सुरक्षा न तो सीनेट द्वारा प्रदान की गई थी बल्कि जनरलों द्वारा स्वयं प्रदान की गई थी। इस प्रकार, शक्ति का केंद्र संस्थानों से व्यक्तियों की ओर स्थानांतरित होने लगा। इस अवधि के दौरान, कमांडरों जैसे कि मारियस, सुल्ला, और अंततः जूलियस सीज़र अत्यधिक प्रभावशाली बन गए। उन्होंने सेना और जन masses से समर्थन प्राप्त किया—न कि लोकतांत्रिक आदर्शों के कारण, बल्कि इसलिए कि: आर्थिक असमानता, भूमि संकट, और व्यापक बेरोजगारी। जनरलों ने राहत का वादा किया, और इसके बदले, जनसंख्या शक्ति के संकेंद्रण को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गई। यह एक महत्वपूर्ण सत्य को प्रकट करता है:

जब संस्थाएँ लोगों की समस्याओं को हल करने में असफल होती हैं, तो लोग केंद्रीकृत प्राधिकरण को स्वीकार करना शुरू कर देते हैं। जूलियस सीज़र को अक्सर गणतंत्र का नाशक के रूप में चित्रित किया जाता है, लेकिन यह व्याख्या अधूरी है। सीज़र केवल कारण नहीं था; वह गणतंत्र के पतन का लक्षण भी था। उसने: सीनेट की अनदेखी की, सैन्य शक्ति के माध्यम से सत्ता पर कब्जा किया, और खुद को "जीवन के लिए तानाशाह" घोषित किया। फिर भी यह संभव था केवल इसलिए क्योंकि: गणतांत्रिक संस्थाएँ बन गई थीं

अप्रभावी, सीनेट लोगों से अलग हो गया था, और अब शक्ति स्थिरता की मांग कर रही थी, न कि बहस।
यहाँ तक कि सीज़र की हत्या ने गणराज्य को पुनर्जीवित करने में असफलता पाई, क्योंकि मूल समस्या व्यक्तिगत नहीं बल्कि संरचनात्मक थी। सीज़र के बाद, ऑक्टेवियन—बाद में ऑगस्टस—ने नियंत्रण संभाला। उसने खुली तानाशाही के बजाय एक बहुत ही सूक्ष्म रणनीति अपनाई। ऑगस्टस: गणराज्य के बाहरी रूपों को बनाए रखा, लेकिन असली शक्ति अपने हाथों में केंद्रित की, और खुद को "पहला नागरिक" (Princeps) कहा न कि राजा। यह शासन का एक परिष्कृत रूप था—तानाशाही बिना तानाशाह के शीर्षक के। गणतांत्रिक संस्थाएँ औपचारिक रूप से अस्तित्व में रहीं, लेकिन निर्णय लेने की शक्ति सम्राट के पास थी। रोमन साम्राज्य ने जनता को राजनीतिक रूप से निष्क्रिय बनाने के लिए एक सरल लेकिन अत्यधिक प्रभावी रणनीति अपनाई—“रोटी और सर्कस।”
के माध्यम से: मुफ्त अनाज का वितरण, भव्य सार्वजनिक प्रदर्शन, और ग्लैडियेटर खेलों का उद्देश्य सामाजिक न्याय या समानता नहीं था। बल्कि, ये नीतियाँ इस उद्देश्य के लिए बनाई गई थीं: जन masses को व्यस्त रखना, संतोष की एक उपस्थिति बनाना, और राजनीतिक प्रश्नों और शक्ति संरचनाओं से ध्यान हटाना।
इस प्रकार, सामग्री की आपूर्ति और मनोरंजन राजनीतिक प्रबंधन के उपकरण के रूप में कार्य करते थे। सार्वजनिक कल्याण को नागरिकों के अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि आज्ञाकारिता सुनिश्चित करने और प्राधिकरण के साथ आलोचनात्मक जुड़ाव को हतोत्साहित करने के उपकरण के रूप में देखा गया।

“Panem et circenses”

— “उन्हें रोटी और सर्कस दो, और वे कभी विद्रोह नहीं करेंगे”

— जुवेनल (रोमन व्यंग्यकार, लगभग *1st–2nd* सदी ईस्वी)

— जुवेनल ने यह वाक्य अपने व्यंग्यात्मक काम “सैटायर” में लिखा था

मध्यकालीन इतिहास को अक्सर “विश्वास का युग” के रूप में चित्रित किया जाता है—एक ऐसा काल जो कथित रूप से भगवान, धर्म और नैतिकता द्वारा शासित था। हालांकि, यह चित्रण एक सरलीकरण है। वास्तव में, मध्यकालीन अवधि स्वयं धर्म का युग नहीं थी, बल्कि धर्म के राजनीतिक उपयोग का युग थी। इसी युग में शासक अभिजात वर्ग ने स्पष्ट रूप से पहचाना कि दीर्घकालिक शासन केवल बल या सैन्य शक्ति पर निर्भर नहीं रह सकता। शक्ति को स्थिरता की आवश्यकता थी, और स्थिरता को एक ऐसी वैधता की आवश्यकता थी जो प्रश्नों से परे खड़ी हो सके। धर्म ऐसी वैधता का सबसे प्रभावी स्रोत बन गया।

मध्यकालीन दुनिया में, धर्म राजनीतिक प्राधिकरण के विकल्प के रूप में कार्य नहीं करता था; बल्कि, यह इसके सहायक उपकरण के रूप में कार्य करता था। चर्च, मस्जिदें, मठ, और मंदिर शक्ति को रोकने वाली संस्थाओं के रूप में कम और जनसंख्या को अनुशासित करने के तंत्र के रूप में अधिक कार्य करते थे।

मध्यकालीन यूरोप में, राजनीतिक प्राधिकरण चर्च और राजशाही के बीच एक निकट सहयोग पर निर्भर था। यह सहयोग आध्यात्मिक सहमति का परिणाम नहीं था, बल्कि आपसी लाभ का था। राजा शासन करते थे, और चर्च उनके शासन को पवित्र करता था।

(a) राजाओं के दिव्य अधिकार का सिद्धांत

यूरोप भर में, यह दावा व्यापक रूप से प्रचारित

किया गया कि राजा भगवान की इच्छा से शासन करते हैं। इस सिद्धांत ने राजनीतिक शक्ति की आलोचना को लगभग असंभव बना दिया। यदि राजा भगवान द्वारा नियुक्त था, तो: उसके आदेशों पर सवाल उठाना, उसके निर्णयों की आलोचना करना, या उसके खिलाफ विद्रोह करना भगवान के खिलाफ विद्रोह के समान माना जाता था। इस प्रकार, राजनीतिक असहमति को धार्मिक अपराध में बदल दिया गया।

(b)चर्च की भूमिका: नैतिकता नहीं, बल्कि वैधता
चर्च ने स्वयं को एक नैतिक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया, फिर भी व्यवहार में यह राजनीतिक वैधता का मुख्य निर्माता के रूप में कार्य करती थी। यह: राजाओं का अभिषेक करती थी, युद्धों को “पवित्र” घोषित करती थी, और सत्ता के विरोधियों को पंथी के रूप में चिह्नित करती थी। जो भी प्राधिकरण का विरोध करता था, वह न केवल ताज का गद्दार बन जाता था, बल्कि भगवान का दुश्मन भी बन जाता था। यहाँ धर्म लोगों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक अनुशासन को लागू करने के लिए कार्य करता था। मध्यकालीन यूरोप में धर्म केवल वैधता का स्रोत नहीं था, बल्कि यह बौद्धिक नियंत्रण का एक उपकरण भी था। चर्च ने यह परिभाषित करने का अधिकार दावा किया: क्या सत्य माना जाता था, क्या ज्ञान का गठन करता था, और क्या पाप था। स्थापित शक्ति के साथ असंगत विचारों को धर्मद्रोह के रूप में निंदा की गई। वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, और सामाजिक आलोचकों को अक्सर धार्मिक अदालतों द्वारा लक्षित किया जाता था। इस प्रकार धर्म:
नियंत्रित ज्ञान, आपराधिक प्रश्न पूछना, और मौजूदा शक्ति संरचनाओं को अपरिवर्तनीय के रूप में चित्रित करना। यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन यूरोप में धर्म का प्राथमिक कार्य नैतिकता का प्रसार करना नहीं था, बल्कि शक्ति को मजबूत करना था। चीन में, शासक संगठित धर्म पर कम और परंपरा और नैतिक दर्शन पर अधिक निर्भर थे। "स्वर्ग का आदेश" का सिद्धांत यह बताता है कि सम्राट आकाशीय स्वीकृति से शासन करता है। यह अवधारणा: शक्ति को नैतिक वैधता प्रदान करती है, सामाजिक असमानता को स्वाभाविक बनाती है, और विद्रोह को एक नैतिक विकार

के रूप में ढालती है। यहाँ भी, शक्ति लोगों की सेवा के लिए नहीं, बल्कि: दरबार, सेना, और प्रशासनिक अभिजात वर्ग के लाभ के लिए कार्य करती है। चाहे यूरोप में हो या चीन में, वही संरचनात्मक पैटर्न उभरता है:
शक्ति स्थिरता की खोज करती है, स्थिरता को वैधता की आवश्यकता होती है, और वैधता को सबसे प्रभावी ढंग से धर्म, परंपरा, या संस्कृति के माध्यम से सुरक्षित किया जाता है। इस प्रक्रिया में धर्म: शक्ति को नैतिक

जांच से मुक्त करता है, इसे आलोचना से बचाता है, और जनसंख्या को मनोवैज्ञानिक रूप से अधीन करता है। एक ही समय में, धर्म स्वयं शक्ति पर निर्भर हो गया। मध्यकालीन साम्राज्यों में, शासन सामान्य लोगों की भलाई के लिए कभी-कभी नहीं बनाया गया। असली लाभार्थी दरबार, सेना, और अभिजात वर्ग थे। सामान्य लोग कर चुकाते थे, श्रम प्रदान करते थे, युद्ध लड़ते थे, और इसके बदले धार्मिक उपदेश और नैतिक निर्देश प्राप्त करते थे। धर्म शोषण को सही ठहराने के लिए कार्य करता था।
इसलिए, मध्यकालीन इतिहास यह दर्शाता है कि धर्म शक्ति का प्रतिकूल नहीं था, बल्कि इसका सबसे विश्वसनीय सहयोगी था। इसने शक्ति को: एक नैतिक मुखौटा, आलोचना से सुरक्षा, और असमानता का पवित्रकरण प्रदान किया। शक्ति हमेशा एक विचारधारा के साथ खुद को सशस्त्र करती है—कभी-कभी धर्म, कभी- कभी परंपरा, कभी-कभी संस्कृति। रूप बदलते हैं; तर्क नहीं।
ब्रिटिश साम्राज्य को अक्सर आधुनिक इतिहास में दो चरम दृष्टिकोणों के माध्यम से चित्रित किया जाता है। एक ओर, इसे "सभ्यता, कानून, और आधुनिकता" लाने वाली शक्ति के रूप में मनाया जाता है। दूसरी ओर, इसे पूरी तरह से शोषणकारी, क्रूर, और विनाशकारी के रूप में चित्रित किया जाता है। ऐतिहासिक वास्तविकता इन चरम सीमाओं के बीच है। कोई भी राजनीतिक शक्ति पूरी तरह से दयालु या पूरी तरह से दुष्ट नहीं होती। हालाँकि, यह संतुलित दृष्टिकोण एक मौलिक तथ्य को अस्पष्ट नहीं करना चाहिए: ब्रिटिश साम्राज्य का प्राथमिक उद्देश्य उपनिवेशों की भलाई नहीं, बल्कि साम्राज्य की शक्ति का विस्तार और संरक्षण था।

ब्रिटिश साम्राज्य एक आधुनिक शक्ति के रूप का प्रतिनिधित्व करता था जिसमें सैन्य बल को प्रशासन, कानून, शिक्षा, और विचारधारा के साथ नियंत्रण के उपकरण के रूप में जोड़ा गया था। यह एक ऐसा उपनिवेशवाद था जो केवल एक हिंसक विजेता के रूप में प्रस्तुत नहीं होता था; इसने "सभ्यताकारी संरक्षक" की छवि को सावधानीपूर्वक तैयार किया।
विचारधारा का ढांचा जिसके माध्यम से ब्रिटेन ने भारत, अफ्रीका, एशिया, और अन्य क्षेत्रों में अपने शासन को सही ठहराया, वह दोनों

जटिल और रणनीतिक रूप से महत्वपूर्ण था। उपनिवेशीय प्रभुत्व को तीन प्रमुख दावों के माध्यम से वैधता दी गई: पहले, कि यह सभ्यता ला रहा था; दूसरे, कि यह कानून और व्यवस्था स्थापित कर रहा था; और तीसरे, कि यह आधुनिक शिक्षा और प्रशासन प्रदान कर रहा था। ये कथाएँ उपनिवेशवाद को नैतिक अधिकार का एक आवरण प्रदान करती थीं, शक्ति को शोषणकारी के रूप में नहीं बल्कि उद्धारक के रूप में चित्रित करती थीं, एक ऐसी शक्ति जो साम्राज्य के मार्गदर्शन में कथित "पिछड़े" समाजों को उठाती थी। यह विचारधारात्मक स्थिति उपनिवेशीय शासन की सबसे प्रभावी और स्थायी सफलताओं में से एक थी, जिससे साम्राज्य को नियंत्रण बनाए रखने में मदद मिली जबकि एक दयालुता की छवि प्रस्तुत की गई। फिर भी, इस नैतिकवादी रेटोरिक के नीचे व्यापक बलात्कारी, निरंतर आर्थिक निष्कर्षण, और व्यापक मानव पीड़ा थी—वास्तविकताएँ जिन्हें विचारधारात्मक ढांचा मिटा नहीं सकता था और जो उपनिवेशवाद की गहन लागतों को समझने के लिए केंद्रीय बनी हुई हैं।
इसलिए, ब्रिटिश साम्राज्य न तो पूरी तरह से सभ्य था और न ही पूरी तरह से बर्बर। यह शक्ति की एक अत्यधिक संगठित संरचना थी जिसने नियंत्रण को संस्थागत बनाने के लिए आधुनिकता की भाषा का उपयोग किया।
बीसवीं सदी को अक्सर मानव इतिहास में "लोकतांत्रिक मोड़" के रूप में वर्णित किया जाता है। साम्राज्य कमजोर हुए, उपनिवेशवाद कमज़ोर हुआ, और राष्ट्र-राज्य उभरे। इस अवधि के दौरान, यह व्यापक रूप से घोषित किया गया कि शक्ति अंततः लोगों के हाथों में चली गई है। राजाओं, सम्राटों और उपनिवेशी शासकों का अंत हुआ, जिन्हें संविधान,

संसदों और चुनावों ने प्रतिस्थापित किया। सिद्धांत में, इस बदलाव को राजनीतिक शक्ति के नैतिक विकास के रूप में व्याख्यायित किया गया।
हालांकि, राष्ट्र-राज्य और आधुनिक लोकतंत्र के कार्य करने के तरीके का निकटता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि शक्ति की मूलभूत तर्कशक्ति में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। जो बदला वह इसका रूप, भाषा और प्रौद्योगिकी थी। आधुनिक लोकतंत्र शक्ति को समाप्त नहीं करता; यह शक्ति को अधिक परिष्कृत, अधिक स्वीकार्य और अक्सर अधिक अदृश्य बना देता है।

राष्ट्र-राज्य का उदय साम्राज्यों के पतन से निकटता से जुड़ा हुआ था। पहले और दूसरे विश्व युद्धों के बाद, यह विचार मजबूत हुआ कि शक्ति किसी राजवंश या साम्राज्य की नहीं, बल्कि "राष्ट्र" की होनी चाहिए। राष्ट्र को एक साझा पहचान, एक सामान्य इतिहास और एक सामूहिक भाग्य के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह एक शक्तिशाली विचार था क्योंकि इसने शक्ति को एक बाहरी शासक से "हम" के काल्पनिक समुदाय में स्थानांतरित कर दिया।
फिर भी, यह एक मौलिक प्रश्न उठाता है: वास्तव में यह "हम" कौन है? राष्ट्र-राज्यों ने सभी नागरिकों को कानून में समान घोषित किया, फिर भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति गहराई से असमान बनी रही। शक्ति अब राजा के हाथों में केंद्रित नहीं थी; यह राज्य संस्थानों, नौकरशाही प्रणालियों और सैन्य-प्रशासनिक तंत्रों के भीतर केंद्रित हो गई। साम्राज्य ढह गए, लेकिन प्रभुत्व की संरचनाएँ नहीं गईं। लोकतंत्र को अक्सर "लोगों द्वारा शासन" के रूप में वर्णित किया जाता है। हालांकि, आधुनिक लोकतंत्रों में नागरिकों की भूमिका मुख्य रूप से: मतदान, प्रतिनिधियों का चयन करना, और फिर अगले चुनाव का इंतजार करना होती है।
नीति निर्माण, संसाधनों का वितरण, और प्रमुख निर्णय लेने पर वास्तविक शक्ति जनसंख्या के हाथों में rarely होती है। इस प्रकार, लोकतंत्र शक्ति के हस्तांतरण के लिए एक तंत्र कम और शक्ति के प्रबंधन के लिए एक उपकरण अधिक बन जाता है। चुनाव सरकारों को बदलते हैं; वे कभी-कभी शक्ति संरचनाओं को नहीं बदलते।
आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में, शक्ति संस्थानों के एक गठबंधन के माध्यम से कार्य करती है—राजनीतिक

दल, आर्थिक पूंजी, और मीडिया।
(a)राजनीतिक दल:
राजनीतिक दलों का दावा है कि वे लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन व्यावहारिक रूप से वे मुख्य रूप से: शक्ति की खोज में संगठनों के रूप में कार्य करते हैं जिनका मूल उद्देश्य शक्ति बनाए रखना है। उनकी नीतियाँ अक्सर सार्वजनिक आवश्यकता से कम और: चुनावी अंकगणित, दाताओं, और कॉर्पोरेट हितों से अधिक आकारित होती हैं।

(b)पूंजी की भूमिका:
आधुनिक लोकतंत्रों में, आर्थिक शक्ति आसानी से राजनीतिक शक्ति में बदल जाती है। चुनाव महंगे होते हैं, अभियानों को वित्तपोषण की आवश्यकता होती है, और नीति निर्माण पर कॉर्पोरेट दबाव का प्रभाव होता है। इस प्रकार: सभी मतदान करते हैं, लेकिन केवल कुछ ही असमान प्रभाव का प्रयोग करते हैं। यह लोकतंत्र के मौन विरोधाभासों में से एक है।
(c)मीडिया: जानकारी या सहमति का निर्माण?
मीडिया को अक्सर लोकतंत्र का "चौथा स्तंभ" कहा जाता है। वास्तव में, समकालीन मीडिया अक्सर: शक्ति से स्वतंत्र नहीं है, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक हितों के साथ निकटता से intertwined है। इसकी भूमिका धीरे-धीरे जानकारी प्रदान करने से सहमति बनाने की ओर बढ़ रही है। आधुनिक शक्ति स्पष्ट बल प्रयोग पर कम और मनोवैज्ञानिक, कथा निर्माण, और भावनात्मक सक्रियता पर अधिक निर्भर करती है। हिंसा कम दिखाई देती है; यह भाषा, प्रतीकों, और छवियों के माध्यम से कार्य करती है।
आज की शक्ति: इसे "राष्ट्रीय हित" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, आलोचना को विश्वासघात के रूप में लेबल किया जाता है, और असहमति को एक खतरे के रूप में चित्रित किया जाता है। यह एक अत्यधिक परिष्कृत प्रकार की सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है — जिसमें नागरिक स्वयं उस शक्ति के रक्षक बन जाते हैं जो उन्हें शासित करती है।
आधुनिक लोकतंत्रों में पहचान राजनीति का व्यापक उपयोग होता है। राष्ट्र, धर्म, जाति, जातीयता और भाषा शक्ति के लिए भावनात्मक संसाधन बन जाते हैं। जब: आर्थिक असमानता गहरी होती है और सामाजिक समस्याएँ अनसुलझी रहती हैं, तो ध्यान भौतिक

मुद्दों से पहचान आधारित संघर्षों की ओर मोड़ दिया जाता है। नागरिक महत्वपूर्ण प्रतिभागियों के रूप में कार्य करना बंद कर देते हैं और संगठित पहचान समूहों के सदस्यों में बदल जाते हैं। तब शक्ति इन समूहों के बीच मध्यस्थता करके और अपने आप को अनिवार्य के रूप में प्रस्तुत करके स्थिर हो जाती है।
औपचारिक रूप से, असहमति आधुनिक लोकतंत्रों में अनुमति है, लेकिन व्यावहारिक रूप से इसे अक्सर नियंत्रित और अवैध ठहराया जाता है। विरोध को लेबल किया जाता है

अव्यवस्था; प्रश्न पूछना राष्ट्रविरोधी के रूप में चिह्नित किया जाता है; आलोचकों को राज्य के दुश्मनों के रूप में चित्रित किया जाता है। यह प्रक्रिया शक्ति को नैतिक रूप से पवित्र करती है जबकि विपक्ष को अमानवीकरण करती है। लोकतंत्र सवाल पूछने की स्वतंत्रता के बारे में कम होता है और यह अधिक इस बात के बारे में होता है कि कौन से सवाल पूछे जा सकते हैं।
आधुनिक लोकतंत्र की विशिष्ट विशेषता शक्ति की अनुपस्थिति नहीं है, बल्कि यह है कि यह कितनी सूक्ष्मता से कार्य करता है। यह कम स्पष्ट हिंसा का उपयोग करता है, स्वयं को लोगों की इच्छा के रूप में प्रस्तुत करता है, और भय के बजाय सहमति के माध्यम से कार्य करता है। यह इसे स्वाभाविक रूप से अधिक नैतिक नहीं बनाता; यह बस इसे बनाता है: अधिक कुशल, अधिक मनोवैज्ञानिक, और अधिक व्यापक रूप से स्वीकार्य। राष्ट्र-राज्य और लोकतंत्र इसलिए शक्ति के अंत का संकेत नहीं देते; वे इसके आधुनिक अवतार का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजाओं का अंत हुआ, साम्राज्य भंग हुए—फिर भी नियंत्रण, पदानुक्रम, और प्रभुत्व नए और अधिक परिष्कृत रूपों में बने रहे। राजनीतिक शक्ति राजनीतिक विमर्श में सबसे अधिक उपयोग की जाने वाली लेकिन सबसे कम स्पष्ट रूप से परिभाषित अवधारणाओं में से एक है। इसे सामान्यतः शासन, नेतृत्व, सार्वजनिक सेवा, या “जनता की इच्छा” की भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। लोकतांत्रिक प्रणालियों में, राजनीतिक शक्ति को चुनावों से वैधता प्राप्त होती है, जबकि अधिनायकवादी प्रणालियों में इसे स्थिरता, सुरक्षा, या राष्ट्रीय हित के नाम पर उचित ठहराया जाता है। हालांकि, इन सभी प्रस्तुतियों में एक मौलिक सीमा

है: वे राजनीतिक शक्ति की संरचनात्मक प्रकृति को अस्पष्ट कर देती हैं। यह अध्याय इस धारणा को चुनौती देता है कि राजनीतिक शक्ति का प्राथमिक उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण है। इसके विपरीत, यह तर्क करता है कि राजनीतिक शक्ति मूल रूप से समाज पर नियंत्रण बनाए रखने और समय के साथ अपने आप को पुन: उत्पन्न करने का एक तंत्र है।
शैक्षणिक दृष्टिकोण से, राजनीतिक शक्ति को केवल प्रभाव या नेतृत्व के रूप में नहीं समझा जा सकता। यह प्रभाव से परे जाती है और बाध्यकारी निर्णय लेने की क्षमता से संबंधित है और

उनके कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए। राजनीतिक शक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है:
“राजनीतिक शक्ति वह संस्थागत क्षमता है जिसके माध्यम से समाज के एक सीमित वर्ग द्वारा जीवन की परिस्थितियों, संसाधनों तक पहुँच और बहुमत के व्यवहार के पैटर्न को निर्धारित किया जाता है, जबकि इस नियंत्रण के लिए वैधता भी उत्पन्न की जाती है।”

राजनीतिकशक्तिकोएकसंरचितघटनाकेरूपमें समझाजासकताहैजोतीनमुख्यतत्वोंपर आधारितहै: निर्णयलेनेका केंद्रीकरण, शासकोंऔरशासितोंकेबीचसंरचनात्मकअसमानता, औरवे प्रक्रियाएँजिनकेमाध्यमसेवैधताकानिर्माणहोताहै।यहवैचारिकी मैक्सवेबरकेअधिकारकेसिद्धांत, मिशेलफूकोकेशक्ति-ज्ञान संबंधोंकेविश्लेषण, औरनोआमचॉम्स्कीके "निर्मितसहमति" केविचार पर आधारितहै।लोकतांत्रिकसमाजोंमें, राजनीतिकशक्तिकोअक्सर नेतृत्वऔरसेवाकेसाथजोड़ाजाताहै: नेतृत्वकोस्वैच्छिकअनुसरण सेउत्पन्नहोनेकेरूपमेंमानाजाताहै, औरसेवाकाअर्थदूसरोंकी भलाईकोप्राथमिकतादेनाहै।हालाँकि, राजनीतिकशक्ति, इसकेविपरीत, नैतिकगुणसेस्वतंत्ररूपसेकार्यकरतीहै, सहमतिकीअनुपस्थितिमें भीकार्यकरसकतीहै, औरबलप्रयोगऔरदंडात्मकउपायोंकोलागूकरनेके लिएअंतिमअधिकारबनाएरखतीहै।इसलिए, राजनीतिकशक्तिकोसेवाया नैतिकनेतृत्वकेसाथसमानकरनाविश्लेषणात्मकरूपसेभ्रामकहै। अधिकारकीस्थितिमेंरहनेवालेव्यक्तिव्यक्तिगतरूपसेईमानदारया अच्छेइरादोंवालेहोसकतेहैं, फिरभीशक्तिकीसंरचनाउन्हेंउन व्यवस्थाओंकोबनाएरखनेकेलिएमजबूरकरतीहैजिनसेउनकाअधिकार उत्पन्नहोताहै।राजनीतिकशक्तिदोमुख्यतंत्रोंकेमाध्यमसेप्रकट होतीहै: बलप्रयोगऔरसहमतिकानिर्माण।बलप्रयोगशक्तिका प्रत्यक्षऔरदृश्यरूपहैऔरइसमेंपुलिसिंग, सैन्यबल, दंडात्मक कानूनीढांचे, औरनिगरानीतंत्रशामिलहैं।यहांतककिभारतजैसे स्थापितलोकतंत्रोंमेंभी, बलात्कारीउपकरणसक्रियरहतेहैं:

उपनिवेशीययुगकेप्रावधानजैसेराजद्रोहकानूनऔरसमकालीनकानून जैसेअवैध

गतिविधियाँ (रोकथाम) अधिनियम यह दर्शाते हैं कि राज्य की असाधारण बलात्कारी क्षमताएँ लोकतांत्रिक संस्थागत मुखौटे के बावजूद बनी रहती हैं। इसके विपरीत, सहमति अधिक प्रभावी और कम महंगी होती है, और आधुनिक राज्य इसके निर्माण पर भारी निर्भर करते हैं। सहमति उत्पन्न करने के प्रमुख उपकरणों में चुनाव, राष्ट्रवाद, धर्म, और मीडिया और प्रचार शामिल हैं।
भारत में चुनावों को व्यापक रूप से जन भागीदारी के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है, फिर भी वे मूल रूप से शक्ति की संरचना को चुनौती नहीं देते; इसके बजाय, वे इसकी वैधता को नवीनीकरण करते हैं। लोकतंत्र, जिसे आमतौर पर "जनता का शासन" के रूप में कल्पित किया जाता है, वास्तव में एक प्राधिकरण प्रबंधन प्रणाली के रूप में कार्य करता है। चुनावी प्रक्रियाएँ शासन की अंतर्निहित तर्क को नहीं बदलतीं; वे केवल नियमित अंतराल पर शासक अभिजात वर्ग को वैधता प्रदान करती हैं। भारतीय संदर्भ में, आर्थिक और शैक्षिक असमानताएँ स्पष्ट रूप से बनी रहती हैं, मीडिया और कॉर्पोरेट पूंजी निर्णायक प्रभाव डालती है, और नीति निरंतरता कार्यालय में पार्टी के बावजूद बनी रहती है। लोकतंत्र शक्ति को रूप में मानवता प्रदान करता है बिना इसके सार में इसे भंग किए।
राजनीतिक और आर्थिक शक्ति गहराई से intertwined हैं। राज्य की नीतियाँ अक्सर उन आर्थिक संरचनाओं को मजबूत करती हैं जो राजनीतिक प्राधिकरण को बनाए रखती हैं, जो कॉर्पोरेट और राज्य के हितों के संरेखण, विकास के रूप में निजीकरण के ढांचे, और सामाजिक असंतोष को प्रबंधित करने के लिए कल्याण योजनाओं के उपयोग में स्पष्ट है। यह गतिशीलता

कार्ल मार्क्स की राज्य की समझ को दर्शाती है, जो प्रमुख वर्ग के हितों की संरक्षक के रूप में है। राष्ट्रवाद राजनीतिक शक्ति के सबसे शक्तिशाली वैचारिक उपकरणों में से एक के रूप में उभरता है, जो राज्य को राष्ट्र के साथ समानता करता है और प्राधिकरण की आलोचना को राष्ट्र के प्रति शत्रुता के रूप में पुनः फ्रेम करता है। भारत में, राष्ट्रवाद अक्सर असहमति को अपराधीकरण करने, अल्पसंख्यक समुदायों को हाशिए पर डालने, और सुरक्षा के नाम पर अधिकारों को सीमित करने के लिए तैनात किया जाता है।
राजनीतिक शक्ति के प्राथमिक उद्देश्य, इसलिए, सेवा या मुक्ति नहीं बल्कि प्राधिकरण का आत्म-रक्षा हैं,

शक्ति संरचना की स्थिरता और संभावित चुनौतियों का न्यूनीकरण। ये परिणाम संरचनात्मक वास्तविकताएँ हैं, न कि व्यक्तिगत नैतिक विफलता के केवल परिणाम। भारत कोई अपवाद नहीं है; लोकतंत्रों, तानाशाहियों और所谓 समाजवादी राज्यों में, समान पैटर्न दोहराते हैं: प्राधिकरण का केंद्रीकरण, असहमति की सीमाएँ, और वैधता का प्रणालीगत उत्पादन। राजनीतिक शक्ति को आदर्शवादी दृष्टिकोण से रोमांटिक नहीं किया जाना चाहिए और न ही इसे भ्रष्टाचार की संकीर्ण चर्चा में घटित किया जाना चाहिए। इसे नियंत्रण, वैधता और अनुपालन में निहित एक संरचनात्मक व्यवस्था के रूप में सबसे अच्छा समझा जाता है।
राजनीतिक शक्ति दूसरों की सेवा के लिए नहीं होती; यह मुख्य रूप से अपनी स्वयं की रक्षा के लिए होती है। यह एक नैतिक दावा नहीं है बल्कि एक अवलोकनीय राजनीतिक पैटर्न है। इतिहास और शासन के दौरान, शक्ति एक नैतिक संस्थान की तरह कम और एक जीवित जीव की तरह अधिक व्यवहार करती है। इसका पहला प्रवृत्ति निरंतरता है। सेवा केवल तब होती है जब यह उस प्रवृत्ति का समर्थन करती है। राजनीति का मौलिक सिद्धांत इसलिए सरल है: शक्ति बनाए रखें। सभी अन्य विचार—नैतिकता, विचारधारा, राष्ट्रवाद, धर्म, या सार्वजनिक सेवा—उपकरणात्मक हैं। इन्हें तब अपनाया जाता है जब ये उपयोगी होते हैं और तब छोड़ दिया जाता है जब ये असुविधाजनक होते हैं। राजनीतिक भाषा समय के साथ बदलती है; राजनीतिक प्रोत्साहन नहीं।
नेताओं को जन masses का समर्थन नहीं चाहिए। इसके बजाय, वे एक छोटे, निर्णायक समूह पर निर्भर करते हैं जिसकी वफादारी उन्हें कार्यालय में बनाए रखती है। राजनीतिक वैज्ञानिक जैसे ब्रूस बुएनो डे

मेस्क्विटा इसे चयनकर्ता सिद्धांत के माध्यम से वर्णित करते हैं: प्रत्येक राजनीतिक प्रणाली में एक "जीतने वाला गठबंधन" होता है, और शक्ति केवल उस गठबंधन को संतुष्ट रखकर जीवित रहती है। चाहे कोई शासन लोकतांत्रिक हो या अधिनायकवादी, तर्क समान रहता है। उन कुछ को पुरस्कृत करें जो महत्वपूर्ण हैं, और जो महत्वपूर्ण नहीं हैं उन्हें अनदेखा करें।
हम इस बात पर विश्वास करने के लिए तैयार हैं कि राजनीति विश्वास, सेवा और विचारधारा के चारों ओर घूमती है। नागरिकों को सिखाया जाता है कि नेता शासन करते हैं

समाज की ओर से और चुनावों का सामूहिक इच्छा को दर्शाते हैं। वास्तव में, राजनीति नैतिकता के बजाय अंकगणित द्वारा शासित होती है। सत्ता सुरक्षित करने के लिए कितने व्यक्तियों की आवश्यकता है? कितनों को पुरस्कृत, डराया या निष्क्रिय किया जाना चाहिए? कितनी असहमति सहन की जा सकती है इससे पहले कि यह खतरनाक हो जाए? यह गणना—नैतिक इरादा—शक्ति की असली भाषा है।
राजनीति में सबसे बड़ा धोखा यह है कि नेता जनसंख्या की सेवा करते हैं। वास्तव में, वे केवल उस गठबंधन की सेवा करते हैं जिसकी निष्ठा उन्हें बनाए रखती है। चाहे कोई प्रणाली अपने आप को लोकतांत्रिक या अधिनायकवादी कहे, यह गौण है। जो महत्वपूर्ण है वह है गठबंधन प्रबंधन। धन, विशेषाधिकार, कानूनी छूट, या डर के माध्यम से निष्ठा बनाए रखें, और शक्ति सुरक्षित रहती है। यदि वह निष्ठा खो जाती है, तो हटाना अनिवार्य हो जाता है।
यह समझाता है कि सरकारें लगातार सार्वजनिक कल्याण के मुकाबले अभिजात वर्ग के हितों को प्राथमिकता क्यों देती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, और समानता में व्यापक निवेश सत्ता पर निर्भरता को कम करता है और नागरिकों को शक्ति पर सवाल उठाने के लिए सशक्त बनाता है। ऐसा सशक्तिकरण राजनीतिक अस्तित्व के लिए खतरा है। इसके विपरीत, असमानता निर्भरता पैदा करती है। संकेंद्रित धन और विशेषाधिकार निष्ठा की गारंटी देते हैं। असमानता शासन की विफलता नहीं है; यह अक्सर शासन की रणनीति होती है।
भ्रम एक केंद्रीय भूमिका निभाता है। सुधार के वादे, प्रतीकात्मक कल्याण योजनाएं, सब्सिडी वाले आवश्यक सामान, और देशभक्ति की कथाएं जनसंख्या को

शांत करती हैं बिना शक्ति का पुनर्वितरण किए। आशा को सावधानी से प्रबंधित किया जाता है—विद्रोह को रोकने के लिए पर्याप्त, परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए अपर्याप्त। वास्तविक परिवर्तन के लिए अभिजात वर्ग से शक्ति को स्थानांतरित करना आवश्यक होगा, और कोई शासक अपनी स्वयं की सत्ता की नींव को स्वेच्छा से नहीं तोड़ता।
पैसा राजनीतिक शक्ति की रक्तधारा के रूप में कार्य करता है। यह मुख्य रूप से सार्वजनिक वस्तुओं में प्रवाहित होने के बजाय, वफादार अधिकारियों, वित्तीय समर्थकों, सुरक्षा बलों, और मध्यस्थों के नेटवर्क के माध्यम से संचालित होता है। ये अभिनेता शक्ति का समर्थन विश्वास के कारण नहीं करते;

वे इसका समर्थन करते हैं क्योंकि उनकी जीविका इस पर निर्भर करती है। ऐसे प्रणालियों के तहत संस्थागत गिरावट आकस्मिक अक्षमता नहीं है बल्कि जानबूझकर की गई डिजाइन है।
संसाधन-समृद्ध राज्य इसे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। खाड़ी में तेल के राजतंत्र प्राकृतिक संसाधन राजस्व पर निर्भर करते हैं न कि कराधान पर। क्योंकि शासक नागरिकों पर राजस्व के लिए निर्भर नहीं होते, नागरिकों के पास बहुत कम प्रभाव होता है। जवाबदेही ढह जाती है। वेनेजुएला का आर्थिक पतन यह और दर्शाता है कि कैसे संसाधन धन अभिजात वर्ग के नेटवर्क को बनाए रखता है जबकि अस्पताल, बुनियादी ढांचा, और सार्वजनिक सेवाएं deteriorate होती हैं। जब तक गठबंधन को वित्त पोषित किया जाता है, तब तक जनसंख्या की पीड़ा अप्रासंगिक हो जाती है।
इसलिए, भ्रष्टाचार शक्ति से एक विचलन नहीं है; यह इसके मुख्य तंत्रों में से एक है। कोई नेता केवल वैध साधनों के माध्यम से हर समर्थक को पुरस्कृत नहीं कर सकता। अवैध पहुंच विकल्प बन जाती है। नौकरशाह रिश्वत निकालते हैं, ठेकेदार निविदाओं को बढ़ाते हैं, और मंत्री अस्पष्ट प्रणालियों से लाभ उठाते हैं। ऐसा व्यवहार केवल सहन नहीं किया जाता— यह संरचनात्मक रूप से प्रोत्साहित किया जाता है। भ्रष्टाचार अभिजात वर्ग को साझा जोखिम और साझा लाभ के माध्यम से एक साथ बांधता है। ईमानदारी शक्ति को खतरे में डालती है; भ्रष्टाचार इसे स्थिर करता है। नाइजीरिया में, तेल राजस्व के अरबों निजी हाथों में गायब हो गए हैं जबकि सार्वजनिक बुनियादी ढांचा ढह रहा है। भारत में, बढ़ी हुई बुनियादी ढांचा परियोजनाएं ठेकेदारों और राजनीतिक अभिजात वर्ग को समृद्ध करती हैं जबकि निम्न गुणवत्ता के परिणाम

देती हैं। भ्रष्टाचार निष्ठा सुनिश्चित करता है क्योंकि यह विद्रोह को महंगा और ईमानदारी को खतरनाक बनाता है।
शासक गठबंधन का आकार भिन्न हो सकता है, लेकिन सिद्धांत स्थिर रहता है। एक तानाशाह को कुछ दर्जन व्यक्तियों की निष्ठा की आवश्यकता हो सकती है; एक लोकतांत्रिक नेता को लाखों वोटों की आवश्यकता हो सकती है। छोटे गठबंधन उच्च व्यक्तिगत पुरस्कार की मांग करते हैं; बड़े गठबंधन व्यापक लेकिन फिर भी चयनात्मक वितरण की आवश्यकता होती है। हर मामले में, शक्ति उन लोगों के पास नहीं होती जो आदर्शों में विश्वास करते हैं, बल्कि उन लोगों के पास होती है जिनकी निष्ठा सुरक्षित की जा सकती है। जो इस से बाहर हैं

वृत्तों को नजरअंदाज किया जाता है, हाशिए पर रखा जाता है, या चुप करा दिया जाता है। राजनीतिक प्रासंगिकता न्याय द्वारा नहीं, बल्कि उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है।
यह तर्क समझाता है कि क्यों नेता जो वास्तव में सार्वजनिक हित की सेवा करने का प्रयास करते हैं, वे शायद ही जीवित रहते हैं। समाज की ओर संसाधनों को पुनर्निर्देशित करना अभिजात वर्ग की वफादारी को कमजोर करता है। गठबंधन टूटते हैं। हटाने की प्रक्रिया शुरू होती है। ईरान के मोहम्मद मोसादेग, जिन्होंने सार्वजनिक लाभ के लिए तेल का राष्ट्रीयकरण करने का प्रयास किया, उन्हें दो वर्षों के भीतर हटा दिया गया। राजनीति सदाचार पर नहीं, बल्कि प्रोत्साहनों पर काम करती है। नीतियाँ जो समाज को नुकसान पहुँचाती हैं, वे शासकों को मजबूत कर सकती हैं; नीतियाँ जो समाज को लाभ पहुँचाती हैं, वे उन्हें खतरे में डाल सकती हैं। केवल पैसा पर्याप्त नहीं है। शक्ति भी डर और निर्मित सहमति पर निर्भर करती है। जैसा कि नोम चॉम्स्की बताते हैं, आधुनिक प्रणालियाँ केवल स्पष्ट दमन पर निर्भर नहीं करतीं। इसके बजाय, वे धारणा को आकार देती हैं। मीडिया प्रणाली, राजनीतिक विमर्श, और सार्वजनिक बहस यह सीमित करती हैं कि क्या प्रश्न किया जा सकता है। लोग चुप नहीं होते; वे प्रशिक्षित होते हैं। आज्ञाकारिता स्वैच्छिक बन जाती है क्योंकि विकल्पों को असंभव बना दिया जाता है।
डर असहमति को दबाता है और प्रेस को अनुशासित करता है। उत्तर कोरिया में, सत्य स्वयं घातक है। रूस में, भ्रष्टाचार का खुलासा करने वाले पत्रकारों को कारावास या मृत्यु का सामना करना

पड़ता है। यहां तक कि लोकतंत्रों के भीतर, सूचना देने वालों को दंडित किया जाता है जबकि भ्रष्ट अधिकारी सुरक्षित रहते हैं। डर विचार को संकीर्ण करता है और संरचनात्मक अन्याय से ध्यान हटा देता है।
इसलिए शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा प्रणालीगत रूप से कमजोर होती हैं। एक शिक्षित जनसंख्या प्राधिकरण पर प्रश्न उठाती है; प्रश्न उठाना शक्ति को खतरे में डालता है। तालिबान के शासन के तहत, लड़कियों को शिक्षा से वंचित किया जाता है क्योंकि ज्ञान नियंत्रण को कमजोर करता है। भूख एक और हथियार बन जाती है। ज़िम्बाब्वे में, खाद्य सहायता को शासन समर्थकों के बीच चयनात्मक रूप से वितरित किया गया है। एक जनसंख्या जो जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रही है, स्वतंत्रता के लिए संगठित होने की क्षमता नहीं रखती।
विदेशी सहायता अक्सर इन गतिशीलताओं को मजबूत करती है। ऋण और अनुदान शायद ही सामान्य नागरिकों तक पहुँचते हैं। वे सैन्य बलों,

निगरानी प्रणालियों, और अभिजात वर्ग के विशेषाधिकार को मजबूत करते हैं। 2011 के बाद मिस्र को अरबों की सहायता ने सैन्य शासन को मजबूत किया जबकि दैनिक जीवन में बहुत सुधार नहीं हुआ। जब शासक विदेशी पूंजी पर निर्भर होते हैं बजाय घरेलू कराधान के, तो जवाबदेही गायब हो जाती है। सहमति को निर्भरता से बदल दिया जाता है।
लोकतंत्र इस तर्क से अछूता नहीं है। व्यवहार में, यह अक्सर तानाशाही का प्रतिबिंब होता है। शक्ति समग्र रूप से मतदाता के पास नहीं होती, बल्कि उन लोगों के पास होती है जो जीतने के रास्तों को नियंत्रित करते हैं: संयुक्त राज्य अमेरिका में कॉर्पोरेट लॉबी, भारत में जाति ब्लॉक, अन्यत्र मीडिया ओलिगार्क। नेताओं को सार्वभौमिक स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती—केवल एक जीतने का मार्जिन। एक बार चुने जाने पर, वे मुख्य रूप से उन लोगों के लिए शासन करते हैं जिन्होंने उस मार्जिन को सुरक्षित किया।
इस प्रकार लोकतंत्र एक मुखौटा बन जाता है। इसके नीचे वही जीवित रहने की तर्कशक्ति काम करती है जो अधिनायकवादी शासन में पाई जाती है। संस्थाएँ भिन्न होती हैं; प्रोत्साहन नहीं। गठबंधन की रक्षा करें। वफादारी को पुरस्कृत करें। बाकी को हाशिए पर रखें। एक तानाशाह का सबसे बड़ा हथियार लोगों की मासूमियत है। शक्ति के लिए सबसे बड़ा खतरा उनकी जागरूकता है। भारत की शासन प्रणाली लोकतांत्रिक प्रतीत होती है, लेकिन इसकी अंतर्निहित तर्कशक्ति नहीं है। चुनाव, संसद, न्यायालय, और मीडिया सभी मौजूद हैं, फिर भी उनका प्राथमिक कार्य नागरिकों को सशक्त बनाना नहीं है बल्कि शक्ति को वैधता प्रदान करना है। प्राधिकरण व्यापक जनसं consent पर नहीं, बल्कि

एक संकीर्ण और निर्णायक गठबंधन पर निर्भर करता है। यह गठबंधन समय के साथ बदल सकता है, लेकिन इसकी मौलिक प्रकृति स्थिर रहती है। जो लोग शक्ति रखते हैं, उनके लिए समाज की इच्छाएँ इस बात से कम महत्वपूर्ण होती हैं कि कौन मौजूदा शासन की संरचना को बनाए रख सकता है।
लोकतंत्र इस भ्रम को बनाए रखता है कि हर नागरिक के पास समान राजनीतिक शक्ति है। वास्तव में, राजनीतिक प्रभाव असमान रूप से वितरित होता है। कुछ समूह नीति को आकार देते हैं, जबकि अधिकांश केवल इसके परिणामों के साथ जीते हैं। शक्ति के लिए, जनता का मूल्य यहाँ है

संख्याओं में नहीं बल्कि इसकी उपयोगिता में। जो लोग संसाधन, वैधता, स्थिरता, या नियंत्रण प्रदान कर सकते हैं, वे राजनीतिक रूप से प्रासंगिक बन जाते हैं; बाकी को भावनात्मक अपील, प्रतीकात्मक कार्यक्रमों, और वादों के माध्यम से प्रबंधित किया जाता है।
पैसा इस प्रणाली का केंद्रीय धुरी है, क्योंकि आधुनिक शक्ति विचारों या नैतिकता द्वारा नहीं, बल्कि संसाधनों के प्रवाह द्वारा संचालित होती है। नीति उस दिशा में चलती है जिसमें पैसा चलता है, और जहाँ भी नीति जाती है, भविष्य का आकार बनता है। यह विश्वास कि सार्वजनिक संसाधनों का मुख्य रूप से नागरिकों की भलाई के लिए उपयोग किया जाता है, शक्ति के सबसे सफल मिथकों में से एक है। वास्तव में, इन संसाधनों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा उन तंत्रों को बनाए रखने पर खर्च किया जाता है जो शासन की निरंतरता सुनिश्चित करते हैं। यह व्यय अक्सर अदृश्य होता है—कभी सुरक्षा के नाम पर, कभी विकास के नाम पर, कभी स्थिरता के नाम पर—लेकिन इसका उद्देश्य स्पष्ट रहता है: शक्ति के लिए एक सुरक्षित वातावरण बनाना।
निर्णय इस आधार पर नहीं लिए जाते हैं कि क्या समाज को दीर्घकालिक रूप से सशक्त करेगा, बल्कि इस आधार पर कि क्या यह सत्ता में बैठे लोगों को तात्कालिक चुनौतियों से बचाएगा। परिणामस्वरूप, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र—जो स्वतंत्र सोच, आलोचनात्मक क्षमता और आत्मनिर्भरता को विकसित कर सकते हैं—लगातार उपेक्षित रहते हैं। इन क्षेत्रों में निवेश सत्ता के लिए एक जोखिम प्रस्तुत करता है क्योंकि शिक्षित और स्वस्थ नागरिक केवल उपभोक्ता या मतदाता नहीं रहते; वे

प्रश्नकर्ता, तुलना करने वाले और जवाबदेही की मांग करने वाले बन जाते हैं। ऐसे नागरिकों की सत्ता को आवश्यकता नहीं होती।
इसके विपरीत, नियंत्रण, प्रचार और निष्ठा को मजबूत करने वाले व्यय को प्राथमिकता दी जाती है। नियंत्रण केवल बल के उपयोग तक सीमित नहीं है; यह नौकरशाही जटिलता, कानूनी प्रक्रियाओं और आर्थिक निर्भरता के माध्यम से भी लागू किया जाता है। प्रचार केवल जानकारी का प्रसार नहीं है; यह यह निर्धारित करना है कि कौन सी जानकारी सामान्य मानी जाएगी और कौन सी असामान्य बनाई जाएगी। निष्ठा केवल समर्थन नहीं है; यह निर्भरता है—ऐसी

एक व्यक्ति या समूह की निर्भरता जो शासकीय संरचना के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता।
जब सार्वजनिक धन इस तरह से उपयोग किया जाता है, तो असमानता एक दुर्घटना नहीं रह जाती, बल्कि एक रणनीति बन जाती है। एक अत्यधिक असमान समाज में, लोग एक-दूसरे के खिलाफ संघर्ष करते हैं बजाय इसके कि वे ऊपर वालों पर सवाल उठाएं। गरीबी और असुरक्षा सत्ता के लिए उपयोगी होती हैं क्योंकि ये लोगों को तात्कालिक आवश्यकताओं में व्यस्त रखती हैं। जब जीवन अस्तित्व के लिए संघर्ष बन जाता है, तो विचार विलासिता की तरह लगने लगते हैं। यही कारण है कि बुनियादी सेवाओं का पूर्ण और समान वितरण अक्सर अनिश्चितकाल के लिए टाल दिया जाता है।
शिक्षा को अक्सर डिग्रियों और कौशलों तक सीमित कर दिया जाता है। आलोचनात्मक सोच, इतिहास की जटिलता, शक्ति की संरचना, और आर्थिक प्रणालियों का कार्यप्रणाली को पाठ्यक्रमों से व्यवस्थित रूप से बाहर धकेल दिया जाता है। शिक्षा को प्रश्न पूछने के एक माध्यम से अनुकूलन के एक उपकरण में बदल दिया जाता है। इसी तरह, स्वास्थ्य सेवा को एक अधिकार से एक सेवा में परिवर्तित किया जाता है—एक ऐसी सेवा जिसकी उपलब्धता पैसे, पहचान, और संबंधों पर निर्भर करती है। एक अस्वस्थ समाज शायद ही कभी प्राधिकरण को चुनौती देने की स्थिति में होता है।
पैसे का प्रवाह यह भी निर्धारित करता है कि कौन से मुद्दे राष्ट्रीय प्राथमिकताएँ बनते हैं और कौन से व्यक्तिगत विफलताओं के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। बेरोजगारी को एक संरचनात्मक समस्या के रूप में नहीं, बल्कि व्यक्तिगत अक्षमता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। कुपोषण को नीतिगत विफलता के बजाय सांस्कृतिक आदतों के लिए जिम्मेदार ठहराया

जाता है। इस तरह , शक्ति अपने स्वयं के निर्णयों के परिणामों से अलग हो जाती है।

शक्ति -संरेखित नेटवर्क —प्रशासनिक , आर्थिक , या वैचारिक —इस वित्तीय प्रणाली द्वारा पोषित होते हैं। इन नेटवर्कों में समावेश सुरक्षा प्रदान करता है ; बहिष्कार जोखिम लाता है। यही कारण है कि ईमानदारी , पारदर्शिता , और स्वतंत्रता जैसे मूल्य संस्थागत मानदंड बनने के लिए संघर्ष करते हैं। ये व्यक्तिगत गुण बने रहते हैं जिन्हें संरचना नियमित रूप से दंडित करती है। जो लोग

सिस्टम के अनुकूलन के लिए अवसर, सुरक्षा और दृश्यता प्राप्त करें; जो ऐसा नहीं करते, वे अदृश्य या संदिग्ध हो जाते हैं।

यह प्रणाली लोकतंत्र की भाषा में प्रस्तुत होती है। बजट, योजनाएँ, और घोषणाएँ यह आभास देती हैं कि संसाधन लोगों के लिए आवंटित किए जा रहे हैं। लेकिन आवंटन और प्रभाव एक समान नहीं हैं। जो कागज पर समान प्रतीत होता है, वह व्यवहार में चयनात्मक बन जाता है। यह चयनात्मकता तकनीकी शब्दावली, सांख्यिकी, और प्रक्रियाओं के पीछे छिपी होती है, जिससे प्रश्न पूछना स्वयं कठिन हो जाता है।

पैसे के माध्यम से, शक्ति न केवल वर्तमान को नियंत्रित करती है बल्कि भविष्य को भी सीमित करती है। जब शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा को कम वित्त पोषित किया जाता है, तो भविष्य की पीढ़ियाँ उसी निर्भरता में फंसी रहती हैं। यह एक आत्म-निर्भर चक्र बन जाता है—कम निवेश, कम सशक्तिकरण, कम प्रतिरोध। इस चक्र को तोड़ना उन लोगों के हित में नहीं है जो इससे लाभान्वित होते हैं।

ऐसे सिस्टम में, सुधार की भाषा अक्सर सुनी जाती है, लेकिन सुधार की परिभाषा संकीर्ण रहती है। सुधार का मतलब मौजूदा प्रक्रियाओं को अधिक कुशल बनाना होता है, न कि अंतर्निहित संरचना को बदलना। कुशल असमानता सत्ता के लिए स्वीकार्य है; समानता नहीं। इसलिए तकनीक को आसानी से अपनाया जाता है, लेकिन अधिकारों को नहीं। डिजिटल सिस्टम नियंत्रण को आसान बनाते हैं, लेकिन वे अनिवार्य रूप से स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करते।

पैसे की केंद्रीयता यह भी स्पष्ट करती है कि शक्ति नैतिक अपीलों के माध्यम से नहीं बदलती। जब तक संसाधनों के प्रवाह की दिशा वही रहती है, परिणाम भी

वही रहते हैं। शक्ति के लिए सबसे खतरनाक सवाल यह नहीं है कि क्या यह नैतिक है, बल्कि यह है कि क्या यह आवश्यक है। जब नागरिक संगठित, शिक्षित और शक्ति पर निर्भरता के बिना सुरक्षित महसूस करने लगते हैं, तो इसकी वैधता कमजोर होने लगती है।

वास्तविक परिवर्तन, इसलिए, केवल नेताओं को बदलने से नहीं आता बल्कि पैसे की दिशा को बदलने से आता है।
और यह है

सबसे कठिन परिवर्तन , क्योंकि यह शक्ति की मूल मशीनरी को चुनौती देता है। शक्ति सेवा से नहीं डरती ; यह स्वतंत्रता से डरती है। और स्वतंत्रता का मार्ग शिक्षा , स्वास्थ्य देखभाल , और आर्थिक सुरक्षा के माध्यम से चलता है —ठीक वही क्षेत्र जो जानबूझकर कमजोर रखे जाते हैं।

इस प्रकार , पैसा केवल एक आर्थिक उपकरण नहीं रह जाता ; यह शक्ति की भाषा बन जाता है। जो इस भाषा को समझते हैं , वे राजनीति को समझते हैं। बाकी बस इसके परिणामों के भीतर जीते हैं।

इस प्रक्रिया में मीडिया केवल संचार का एक चैनल नहीं है ; यह शक्ति का एक केंद्रीय उपकरण बन जाता है। सतह पर यह स्वतंत्र , विविध और जीवंत प्रतीत होता है —अनगिनत चैनल , समाचार पत्र , वेबसाइटें , पैनल चर्चाएँ , और सामाजिक प्लेटफार्म यह धारणा बनाते हैं कि समाज जानकारी से भरा हुआ है। फिर भी , जानकारी की प्रचुरता ज्ञान के समान नहीं है। वास्तव में , यह जानकारी की बाढ़ अक्सर समझ को डुबो देती है। प्रश्नों की संख्या बढ़ती है , लेकिन उनका महत्व लगातार घटता है। वे प्रश्न जो शक्ति की संरचना , आर्थिक शक्ति के वितरण , और नीति निर्माण की वास्तविक प्रक्रियाओं को उजागर कर सकते हैं , व्यवस्थित रूप से अनुपस्थित हैं।

यह अनुपस्थिति आकस्मिक नहीं है। यह खुली सेंसरशिप के माध्यम से नहीं बनाई गई है , बल्कि चयन के माध्यम से। कुछ मुद्दे बार -बार दिखाए जाते हैं , कुछ सीमित तरीके से प्रस्तुत किए जाते हैं , और कुछ पूरी तरह से गायब हो जाते हैं। दर्शक यह नहीं देख सकता कि क्या रोका जा रहा है , और यही इस प्रणाली की सबसे बड़ी सफलता है। जो दिखाया जाता है वह "वास्तविकता " बन जाता है।

बहसें होती हैं , लेकिन वे नियंत्रित होती हैं। प्रश्न पूछे जाते हैं , लेकिन वे सुरक्षित सीमाओं के भीतर रहते हैं। चर्चाएँ भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने के लिए डिज़ाइन की जाती हैं बिना बौद्धिक असुविधा पैदा किए। क्रोध को उत्तेजित किया जाता है , लेकिन विचार नहीं। मुद्दों को व्यक्तित्वों , घटनाओं , या प्रतीकों में घटित किया जाता है ताकि संरचनात्मक

कारणों की कभी जांच नहीं की जाती। परिणामस्वरूप, लोग समस्याओं के लक्षणों से लड़ते रहते हैं लेकिन शायद ही कभी उनकी जड़ों तक पहुँचते हैं।

भावनात्मक मुद्दे इस तंत्र में सबसे प्रभावी हथियार हैं। डर, गर्व, अपमान और पहचान की भावनाएँ बार-बार उठाई जाती हैं। जब समाज भावना में फंस जाता है, तो यह विश्लेषण नहीं करता। भावनात्मक उन्माद तर्क को निष्क्रिय कर देता है, और जैसे ही तर्क कमजोर होता है, शक्ति सुरक्षित हो जाती है। मीडिया इस भावनात्मक ऊर्जा को निर्देशित करता है—किस पर गुस्सा होना है, किससे डरना है, किस पर गर्व करना है, यह सब सावधानी से आकार दिया जाता है।

पहचान-आधारित संघर्ष इस प्रक्रिया को और गहरा करते हैं। समाज उन समूहों में विभाजित है जिनकी चिंताएँ एक-दूसरे से टकराती हैं। जब लोग अपनी पहचान की रक्षा करने में व्यस्त रहते हैं, तो वे शक्ति पर सवाल नहीं उठाते। एक विभाजित समाज प्राधिकरण के लिए खतरा नहीं बनता। मीडिया इन विभाजनों को न तो निर्मित के रूप में प्रस्तुत करता है और न ही प्राकृतिक, स्थायी और अपरिहार्य के रूप में, जैसे कि संघर्ष सामाजिक अस्तित्व की आवश्यक स्थिति हो।

राष्ट्रीय प्रतीक इस पूरे व्यवस्था के लिए नैतिक ढाल प्रदान करते हैं। सत्ता में बैठे लोगों के निर्णयों को "राष्ट्रीय हित" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, और जो कोई भी इन पर सवाल उठाता है, उसे संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार, आलोचना को असहमति से विश्वासघात में बदल दिया जाता है। यहाँ मीडिया केवल मध्यस्थता नहीं करता; यह निर्णय करता है—यह तय करता है कि कौन वैध है और कौन संदिग्ध है।

संरचनात्मक असमानता पर चर्चा अनुपस्थित है

क्योंकि यह शक्ति के मूल प्रश्न को छूती है। यदि कोई पूछता है कि संसाधन इतने असमान रूप से क्यों वितरित हैं , या नीति निर्माण सीमित हितों के एक सेट की सेवा क्यों करता है , तो पूरा राजनीतिक -आर्थिक ढांचा चुनौती में आ जाता है। ऐसे प्रश्नों से बचने के लिए , मीडिया ध्यान को सतही मुद्दों की ओर मोड़ देता है —तत्काल , भावनात्मक , और सनसनीखेज विषयों पर।

आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण सामान्य , स्वाभाविक और अनिवार्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे "विकास ," "प्रतिस्पर्धा ," और "कुशलता " की भाषा में लपेटा गया है। मीडिया करता है

यह नहीं पूछता कि विकास किसके लिए होता है, प्रतियोगिता द्वारा किसे बाहर रखा जाता है, या दक्षता से किसे लाभ होता है। इसके बजाय, यह व्यक्तिगत सफलता की कहानियों को उजागर करता है ताकि संरचनात्मक बाधाएँ अदृश्य बनी रहें।

नीति निर्माण को अत्यधिक तकनीकी और जटिल के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो साधारण नागरिकों की पहुँच से परे है। ऐसा आभास उत्पन्न होता है कि ऐसे निर्णय विशेषज्ञों के हैं न कि जनता के। इस प्रकार, नागरिक निर्णय लेने से दूर हो जाते हैं, जबकि वे इसके परिणामों को सहन करते हैं। इस अंतर को पाटने के बजाय, मीडिया इसे वैधता प्रदान करता है।

यह पूरा प्रक्रिया इस धारणा पर आधारित है कि नागरिकों को सब कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है — उन्हें केवल इतना जानने की आवश्यकता है कि वे प्रतिक्रिया कर सकें, हस्तक्षेप करने के लिए नहीं। जानकारी इस तरह से पैक की गई है कि यह निष्क्रियता को प्रोत्साहित करती है। लोग जानते हैं लेकिन समझते नहीं; वे देखते हैं लेकिन जोड़ नहीं पाते।

सोशल मीडिया ने इस प्रणाली को कमजोर नहीं किया है; इसने इसे और अधिक जटिल बना दिया है। जानकारी तेजी से फैलती है, लेकिन इसका जीवनकाल छोटा हो जाता है। एक मुद्दा तुरंत दूसरे से बदल जाता है। निरंतर उत्तेजना गहराई को असंभव बना देती है। ध्यान एक दुर्लभ संसाधन में बदल जाता है, और जो ध्यान को नियंत्रित करता है, वह सार्वजनिक विमर्श को नियंत्रित करता है। ऐसे वातावरण में, सत्य और असत्य के बीच की सीमा धुंधली हो जाती है। हर तथ्य को एक राय में बदल दिया जाता है, और हर राय को समान महत्व दिया जाता है। यह ज्ञान को लोकतांत्रिक नहीं बनाता; यह भ्रम को लोकतांत्रिक बनाता है। मीडिया इस भ्रम को

"संतुलन " या "दोनों पक्षों " के नाम पर वैधता प्रदान करता है।

यहां तक कि जब शक्ति संबंध पहले से ही गहराई से असमान हैं।

इस प्रकार , मीडिया शक्ति का विरोधी नहीं , बल्कि इसका संरचनात्मक सहयोगी है। यह सहयोग हमेशा स्पष्ट नहीं होता , फिर भी इसका प्रभाव गहरा होता है। शक्ति को सार्वजनिक सहमति की आवश्यकता होती है , और मीडिया वह कारखाना बन जाता है जहाँ वह सहमति निर्मित होती है।

यह सहमति तर्क के माध्यम से नहीं , बल्कि आदत के माध्यम से उत्पन्न होती है। जो बार-बार देखा जाता है, वह सत्य जैसा महसूस होने लगता है।

आखिरकार, समस्या केवल यह नहीं है कि मीडिया झूठ बोलता है। गहरी समस्या यह है कि यह तय करता है कि सत्य के कौन से हिस्से दिखाए जाएंगे और कौन से अदृश्य रहेंगे। चयन का यह कार्य शक्ति का असली हथियार है। जब समाज यह मानने लगता है कि जो दिखाई देता है, वही पूरा सत्य है, तो दमन की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

इस अर्थ में, मीडिया की सबसे बड़ी ताकत इसकी अदृश्यता है। यह खुद को केवल एक दर्पण के रूप में प्रस्तुत करता है, जबकि वास्तव में यह एक फ्रेम है। और जब तक उस फ्रेम पर सवाल नहीं उठाया जाता, समाज क्यूरेटेड वास्तविकता को वास्तविकता के रूप में गलत समझता रहेगा।

शक्ति की रक्षा के लिए, कोई हथियार, कानून, या सेना इस तरह प्रभावी नहीं है: ध्यान का नियंत्रण, प्रश्नों का चयन, और भावनाओं का प्रबंधन। जब यह प्रक्रिया सामान्य हो जाती है, तो दमन की आवश्यकता नहीं रह जाती—लोग उसी प्रणाली की रक्षा करने लगते हैं जो उन्हें कमजोर करती है।

पहचान—चाहे जाति, धर्म, भाषा, या राष्ट्र पर आधारित हो—केवल एक सामाजिक विशेषता नहीं है; यह एक शक्तिशाली राजनीतिक उपकरण है। शक्ति मुख्य रूप से स्पष्ट हिंसा या बल प्रयोग पर निर्भर नहीं करती; यह समाज के भीतर खींची गई विभाजन रेखाओं पर अधिक निर्भर करती है। जब समाज साझा उद्देश्यों और सामान्य प्रश्नों के चारों ओर एकजुट होता है, तो यह प्राधिकरण के लिए एक चुनौती बन जाता है। इसके विपरीत, जब यह पहचान-आधारित खंडों में विभाजित होता

है , तो यह अपने भीतर उलझा रहता है , जबकि शक्ति इसके ऊपर, सुरक्षित और चुनौतीहीन खड़ी रहती है।

पहचान का राजनीतिक उपयोग इस भ्रम को पैदा करता है कि संघर्ष का स्रोत समाज के भीतर है , न कि शक्ति की संरचना में। जब लोग यह मानने लगते हैं कि उनकी समस्याओं की जड़ कोई अन्य समुदाय , भाषा , जाति , या विचारधारा है , तो वे उन नीतियों और निर्णयों पर ध्यान देना बंद कर देते हैं जो वास्तव में उनके जीवन को आकार देती हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से , शक्ति अदृश्य हो जाती है जबकि

समाज दृश्य संघर्षों में फंसा रहता है। यह रणनीति प्राधिकरण को आलोचना से बचाती है, जनता को विभाजित करके और सामूहिक प्रतिरोध को कमजोर करके।

जाति, उदाहरण के लिए, केवल एक सामाजिक परंपरा के रूप में नहीं, बल्कि एक राजनीतिक संसाधन के रूप में उपयोग की जाती है। यह समाज को स्थायी श्रेणियों में विभाजित करती है जिसमें प्रत्येक समूह धीरे-धीरे अपनी स्थिति को स्वाभाविक मानने लगता है। जब असमानता को जन्म से जुड़े कुछ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो यह सवाल से परे चला जाता है। संरचनात्मक अन्याय तब व्यक्तिगत भाग्य के रूप में प्रकट होता है। शक्ति को अब खुली दमनकारी नीतियों की आवश्यकता नहीं होती; समाज स्वयं मौजूदा व्यवस्था को बनाए रखता है।

धर्म पहचान को एक नैतिक शब्दावली प्रदान करता है। यह प्राधिकरण के निर्णयों को नैतिकता, पवित्रता, और परंपरा से जोड़ता है। जब नीति धार्मिक भावना में लिपटी होती है, तो इसका विरोध केवल राजनीतिक असहमति के रूप में नहीं, बल्कि नैतिक उल्लंघन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रश्न पूछना कठिन हो जाता है क्योंकि प्रश्नकर्ता को जल्दी से अमोरल, अशुद्ध, या एंटी-सोशल के रूप में चिह्नित कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया में, तर्क पीछे हट जाता है और भावना मुख्य मंच पर आ जाती है।

भाषा का उपयोग पहचान के रूप में सूक्ष्म लेकिन अत्यधिक प्रभावी है। भाषा के माध्यम से यह तय किया जाता है कि कौन संबंधित है और कौन बाहरी है। यह वर्गीकरण सांस्कृतिक नहीं रहता; यह संसाधनों, अवसरों और सामाजिक सम्मान तक पहुंच को आकार देता है। जब भाषाई आधार पर श्रेष्ठता और हीनता का निर्माण होता है, तो सामाजिक एकता टूट जाती है।

शक्ति इस विखंडन से लाभान्वित होती है क्योंकि एक विभाजित समाज सामान्य मांगों को व्यक्त नहीं कर सकता।

राष्ट्र पहचान का सबसे व्यापक और शक्तिशाली रूप है। यह व्यक्ति को एक काल्पनिक समुदाय से जोड़ता है , गहरे भावनात्मक लगाव को उत्पन्न करता है। प्राधिकरण इस लगाव का उपयोग अपने निर्णयों को जांच से परे रखने के लिए करता है। जब शक्ति अपने आप को राष्ट्र के समानार्थक के रूप में प्रस्तुत करती है , तो शक्ति की आलोचना को राष्ट्र के प्रति शत्रुता के रूप में पुनर्परिभाषित किया जाता है। दूरी

नागरिक और प्राधिकरण के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है , और नागरिक शक्ति की रक्षा को एक नागरिक कर्तव्य के रूप में देखने लगता है।

पहचान आधारित राजनीति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह वास्तविक मुद्दों को छिपा देती है। बेरोजगारी , असमानता , शिक्षा की कमी और स्वास्थ्य संकट जटिल और संरचनात्मक समस्याएँ हैं। इनका समाधान करने के लिए दीर्घकालिक नीति , संसाधनों का पुनर्वितरण और जड़ें जमा चुके हितों के साथ टकराव की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत , पहचान आधारित मुद्दे सरल , भावनात्मक और तात्कालिक प्रतिक्रिया को उत्तेजित करने में सक्षम होते हैं। सत्ता स्वाभाविक रूप से इन सरल संघर्षों को बढ़ावा देती है क्योंकि ये अधिक सुरक्षित होते हैं।

जब समाज आंतरिक संघर्षों में फंसा रहता है , तो यह प्राधिकरण पर सवाल उठाना बंद कर देता है। संघर्ष सामूहिक ऊर्जा को अंदर की ओर मोड़ देता है। लोग समान नागरिक अधिकारों के बजाय अपने समूह के भीतर सुरक्षा और एकजुटता की तलाश करते हैं। उनके नागरिक के रूप में पहचान पीछे हट जाती है , जो समूह के सदस्यों के रूप में पहचान से बदल जाती है —और शक्ति इस दृष्टिकोण के संकुचन का लाभ उठाती है।

विभाजन को अक्सर समाज की कमजोरी के रूप में देखा जाता है , लेकिन शक्ति के लिए यह इसकी सबसे बड़ी ताकत है। विभाजन के कारण , प्राधिकरण को अब व्यापक सहमति की आवश्यकता नहीं है ; इसे केवल यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि कोई एकल समूह अकेले चुनौती देने के लिए पर्याप्त मजबूत न हो। जब सभी समूह एक -दूसरे के खिलाफ प्रतिस्पर्धा करते हैं , तो शक्ति मध्यस्थ के रूप में उभरती है —और मध्यस्थ हमेशा खेल को नियंत्रित करता है।

एक एकजुट समाज सत्ता के लिए खतरनाक होता है क्योंकि एकता सवाल उठाती है। जब लोग यह समझते हैं कि उनकी समस्याएँ साझा हैं और उनके मूल समान हैं, तो पहचान की दीवारें गिरने लगती हैं। यह क्षण शक्ति के लिए असहज होता है क्योंकि भावनात्मक अपीलें काम करना बंद कर देती हैं; सत्ता को तब उत्तर प्रदान करने होते हैं—और जवाबदेही इसकी प्रकृति के विपरीत होती है।

इसलिए विभाजन केवल सहन नहीं किया जाता; इसे सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया जाता है। शिक्षा, मीडिया और सार्वजनिक संवाद में, पहचान को केंद्र में रखा जाता है जबकि संरचना को पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है।

इतिहास को इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है कि वर्तमान संघर्ष उचित प्रतीत होते हैं। सामूहिक स्मृति राजनीति का एक उपकरण बन जाती है।

पहचान आधारित राजनीति समाज को स्थायी असुरक्षा की स्थिति में रखती है। हर समूह को यह महसूस कराया जाता है कि उसकी पहचान खतरे में है। इस निरंतर खतरे के माहौल में, लोग सुरक्षा के लिए स्वतंत्रता को खुशी-खुशी त्याग देते हैं। इस आदान-प्रदान से प्राधिकरण को लाभ होता है क्योंकि एक डरी हुई समाज कम सवाल पूछता है और अधिक आसानी से आज्ञा मानता है।

इस प्रक्रिया के दौरान, शक्ति एक तटस्थ पर्यवेक्षक के रूप में प्रस्तुत होती है, जैसे कि विभाजन समाज की स्वाभाविक स्थिति हो। लेकिन विभाजन स्वाभाविक नहीं है; इसे लगातार पुनः उत्पन्न करना आवश्यक है। यदि यह पुनः उत्पादन रुक जाता है, तो समाज धीरे-धीरे साझा हितों के चारों ओर एकजुट होने लगता है। इस कारण से, पहचान को बार-बार बुलाया जाना चाहिए, बढ़ाया जाना चाहिए, और संघर्ष के एक स्थल के रूप में ढाला जाना चाहिए।

कल्याण योजनाएँ पहली नज़र में मानवता और सहानुभूति का प्रतीक लगती हैं। ये तात्कालिक राहत प्रदान करती हैं—भुखमरी को थोड़ी देर के लिए शांत करती हैं, असुरक्षा को अस्थायी रूप से छिपाती हैं, और यह धारणा बनाती हैं कि सत्ता में बैठे लोग सामाजिक दुख को समझते हैं। फिर भी राहत और स्वतंत्रता के बीच एक मौलिक अंतर है। राहत संकट को टालती है; स्वतंत्रता इसके मूल को समाप्त करती है। सत्ता आमतौर पर पहले को पसंद करती है, क्योंकि दूसरा उसके अस्तित्व के लिए खतरा पैदा करता है।

कल्याण का उद्देश्य अक्सर गरीबी को समाप्त करना नहीं होता, बल्कि इसे एक प्रबंधनीय स्तर पर बनाए

रखना होता है। निरंतर गरीबी अस्थिरता पैदा करती है —भुखमरी विद्रोह को जन्म दे सकती है। लेकिन नियंत्रित गरीबी राजनीतिक रूप से उपयोगी होती है। जब किसी व्यक्ति की बुनियादी आवश्यकताएँ आंशिक रूप से पूरी होती हैं, तो उन्हें आभारी महसूस करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उस आभार को राजनीतिक पूंजी में परिवर्तित किया जाता है —एक पूंजी जिसे चुनावी समर्थन, सामाजिक वैधता, और नैतिक श्रेष्ठता के दावों के लिए व्यापार किया जा सकता है।

आंशिक राहत लोगों को जीवित रखती है, लेकिन उन्हें निर्भर भी बनाए रखती है। निर्भरता सत्ता के लिए सुरक्षा का एक रूप बन जाती है।

जब जीवन की आवश्यकताएँ एक बाहरी प्राधिकरण से आती हैं, तो लोग इसका सामना करने में हिचकिचाते हैं। सवाल पूछने से पहले, वे चिंतित होते हैं कि उनकी नाजुक सुरक्षा वापस ली जा सकती है। इस प्रकार, कल्याण केवल एक आर्थिक उपकरण नहीं रह जाता; यह व्यवहारिक नियंत्रण का एक उपकरण बन जाता है।

वास्तविक सशक्तिकरण—स्थिर रोजगार, गुणवत्ता शिक्षा, और सार्वभौमिक स्वास्थ्य देखभाल—वास्तविक विकल्प पैदा करता है। विकल्प सत्ता के लिए खतरा होते हैं। एक व्यक्ति जो सुरक्षित रोजगार में है, वह अनिश्चितता से नहीं डरता। एक व्यक्ति जो शिक्षा प्राप्त कर चुका है, वह वादों और परिणामों के बीच अंतर कर सकता है। एक व्यक्ति जो स्वास्थ्य देखभाल सुरक्षा के साथ है, वह आत्मविश्वास के साथ निर्णय लेता है न कि डर के साथ। इस कारण से, ये क्षेत्र जोर-शोर से घोषित किए जाते हैं लेकिन संरचनात्मक रूप से कमजोर होते हैं।

कल्याण कार्यक्रम आमतौर पर पात्रता, शर्तों, और पहचान से जुड़े होते हैं। यह निर्धारित किया जाता है कि कौन "योग्य" है और कौन नहीं। यह वर्गीकरण केवल प्रशासनिक नहीं है; यह राजनीतिक है। पात्रता चयन की शक्ति प्रदान करती है; चयन नियंत्रण की शक्ति प्रदान करता है। जब सहायता दान बन जाती है न कि अधिकार, तो इसे सवाल से परे रखा जाता है। दान पर सवाल उठाना कृतघ्नता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

इस व्यवस्था में, व्यक्ति नागरिक नहीं रह जाता और लाभार्थी बन जाता है। एक नागरिक अधिकारों की मांग करता है; एक लाभार्थी धन्यवाद देता है। सत्ता लाभार्थियों को पसंद करती है, नागरिकों को नहीं। इसलिए, कल्याण की भाषा कभी भी अधिकारों की भाषा

नहीं बनती। यह दयालुता , मदद, और कृपा की भाषा बनी रहती है —एक भाषा जिसमें सत्ता ऊपर होती है और समाज नीचे।

कल्याण योजनाओं की अस्थिरता आकस्मिक नहीं है। इन्हें जीवन को सुधारने के लिए डिज़ाइन किया गया है , लेकिन इसे सुरक्षित करने के लिए नहीं। असुरक्षा व्यक्तियों को सतर्क रखती है , और यह सतर्कता नियंत्रण बनाए रखने के लिए उपयोगी होती है। जब सहायता स्थायी और विश्वसनीय बन जाती है , तो इसकी

राजनीतिक मूल्य घटता है। अस्थायी राहत बार-बार लोगों को याद दिलाती है कि उनके जीवन का निर्भरता प्राधिकरण की सद्भावना पर है।

इस ढांचे के भीतर, गरीबी को संरचनाओं द्वारा उत्पन्न स्थिति के रूप में नहीं, बल्कि प्रबंधन की समस्या के रूप में देखा जाता है। सवाल यह नहीं होता कि गरीबी क्यों है, बल्कि यह होता है कि इसे कैसे संभाला जाना चाहिए। संरचनात्मक कारण—असमान अवसर, संसाधनों का संकेंद्रण, और श्रम का अवमूल्यन—बड़े पैमाने पर अन addressed रहते हैं क्योंकि ये सत्ता के लिए असुविधाजनक होते हैं। ध्यान लक्षणों पर केंद्रित होता है, कारणों पर नहीं।

कल्याण भी सामाजिक एकता को खंडित करता है। जब सहायता समूहों और श्रेणियों के माध्यम से वितरित की जाती है, तो समाज सामान्य मांगों को व्यक्त करने की क्षमता खो देता है। प्रत्येक समूह अपनी हिस्सेदारी की रक्षा करने में लगा रहता है। इस प्रतिस्पर्धा में, अंतर्निहित संरचना अदृश्य हो जाती है। शक्ति इस खंडन से लाभान्वित होती है क्योंकि एक विभाजित समाज प्रणालीगत परिवर्तन की मांग नहीं कर सकता।

कृतज्ञता की राजनीति विशेष रूप से प्रभावी होती है। जब सहायता को उपहार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो इसे स्वीकार करने के साथ ही इसे खोने का डर भी होता है। यह डर चुप्पी पैदा करता है। व्यक्ति अन्याय को देखते हैं, फिर भी बोलने से पहले वे याद करते हैं कि उनकी सीमित सहायता भी वापस ली जा सकती है। इस तरह, कल्याण स्वतंत्रता को बढ़ाने के बजाय संकुचित करता है।

वास्तविक सशक्तिकरण शक्ति के लिए जोखिम भरा होता है क्योंकि यह मध्यस्थों को कमजोर करता है।

स्थायी रोजगार और शिक्षा व्यक्तियों को सीधे संस्थानों से जोड़ते हैं, स्थानीय संरक्षकों, ब्रोकरों और नेटवर्कों को दरकिनार करते हुए। ऐसी निर्भरता संबंधों का पतन उन लोगों के लिए अस्थिरता पैदा करता है जो उन पर शासन करने के लिए निर्भर करते हैं।

इसलिए, कल्याण का अक्सर उपयोग समाधान के रूप में नहीं बल्कि स्थगन के रूप में किया जाता है। यह समय खरीदता है—राजनीतिक समय, सामाजिक समय। संकटों को टाला जाता है, हल नहीं किया जाता। इस स्थगन को सफलता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सांख्यिकी में सुधार होता है, जबकि जीती हुई वास्तविकताएँ बड़े पैमाने पर अपरिवर्तित रहती हैं।

कल्याण और सशक्तिकरण के बीच का भेद जानबूझकर धुंधला किया जाता है। राहत को विकास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिर भी राहत प्रगति नहीं है। राहत लोगों को वर्तमान में जीवित रखती है; प्रगति उन्हें भविष्य प्रदान करती है। वर्तमान को नियंत्रित करना शक्ति के लिए आसान है; भविष्य अनिश्चित है।

इस पूरे व्यवस्था में सबसे बड़ी भ्रांति यह है कि कल्याण शक्ति की उदारता को साबित करता है। वास्तव में, यह इसके अस्तित्व की रणनीति का हिस्सा है। उदारता वह है जो निर्भरता को समाप्त करती है; जो निर्भरता को मजबूत करता है वह उदारता नहीं है—यह प्रबंधन है।

प्रशासनिक तंत्र औपचारिक रूप से निष्पक्ष, नियम-आधारित और तटस्थ दिखाई देता है। संविधान, कानून, मैनुअल और प्रक्रियाएँ इस धारणा को बनाती हैं कि निर्णय संस्थानों द्वारा किए जाते हैं, व्यक्तियों द्वारा नहीं। हालांकि, व्यवहार में, प्रशासन कभी भी राजनीतिक शक्ति से वास्तव में अलग नहीं होता। इसकी निष्पक्षता मुख्य रूप से कागज पर मौजूद होती है; वास्तव में, यह उन लोगों के हितों के साथ संरेखित रहती है जो शासन करते हैं। यह संरेखण साजिश का उत्पाद नहीं है, बल्कि उन प्रोत्साहनों और दंडों का परिणाम है जिनके भीतर प्रशासन कार्य करता है।

हर प्रशासनिक प्रणाली अपने आप को पुरस्कारों और दंडों के माध्यम से अनुशासित करती है। जो लोग शक्ति की अपेक्षाओं का पालन करते हैं, उन्हें सुरक्षा, पदोन्नति, अवसर और प्रतिष्ठा मिलती है। जो लोग प्रश्न पूछते हैं, जो कानून की आत्मा को उसके शाब्दिक शब्दों पर प्राथमिकता देते हैं, वे जोखिम बन जाते हैं। उन्हें "कठिन," "असहयोगी," या

"अव्यवहारिक " के रूप में लेबल किया जाता है। आज्ञाकारिता को संस्थागत रूप से पुरस्कृत किया जाता है , जबकि असहमति को व्यक्तिगत साहस के स्तर पर relegated किया जाता है।

भारत जैसे देशों में , यह प्रक्रिया विशेष रूप से सूक्ष्म होती है। प्रशासनिक संरचना नियंत्रण और आदेश में निहित उपनिवेशीय विरासत से उभरती है। स्वतंत्रता के बाद ढांचा बदला , लेकिन मनोवैज्ञानिक अभिविन्यास पूरी तरह से परिवर्तित नहीं हुआ। नियम अक्सर नागरिक की सेवा नहीं करते , बल्कि मौजूदा व्यवस्था की स्थिरता की सेवा करते हैं।

कोई भी अधिकारी जो इस स्थिरता को चुनौती देता है — यहां तक कि सार्वजनिक हित के नाम पर —जल्द ही "विपरीत प्रणाली" के रूप में देखा जाता है।

यह पैटर्न भारत तक सीमित नहीं है। अधिनायकवादी शासन में यह स्पष्ट है: प्रशासन शक्ति का एक विस्तार के रूप में कार्य करता है। लोकतंत्र में यह अधिक खतरनाक है क्योंकि यह तटस्थता के मुखौटे के पीछे छिपता है। नियमों का चयनात्मक अनुप्रयोग, जांचों का समय, और फाइलों का आंदोलन प्रशासनिक हथियार बन जाते हैं। कानून मौजूद है, लेकिन इसका उपयोग शक्ति की सुविधा के अनुसार होता है। वही तर्क वैश्विक स्तर पर कार्य करता है। कई देशों में, नौकरशाही को "स्थिरता" के संरक्षक के रूप में मनाया जाता है। हालांकि, स्थिरता अक्सर मौजूदा शक्ति संतुलन के संरक्षण का अर्थ होती है। जो नीतियाँ इस संतुलन को खतरे में डालती हैं —चाहे वह पर्यावरण, श्रमिक अधिकारों, या सामाजिक समानता के क्षेत्र में हों —उन्हें "अवास्तविक," "आर्थिक रूप से अस्वस्थ," या "राष्ट्रीय हित के खिलाफ" घोषित किया जाता है। नैतिक प्रश्न इस प्रकार तकनीकी के रूप में पुनः फ्रेम किए जाते हैं।

कठिनाइयाँ।

इनाम और दंड का शासन केवल औपचारिक नहीं है, बल्कि गहराई से अनौपचारिक भी है। स्थानांतरण, गोपनीय रिपोर्ट, विभागीय जांच, और फ़ाइलों में देरी सभी यह संकेत देती हैं कि कौन सा व्यवहार स्वीकार्य है और कौन सा नहीं। जब अधिकारी उन लोगों के करियर को ठहरते हुए देखते हैं जो सवाल उठाते हैं, और उन लोगों के लिए फलते-फूलते हैं जो चुप रहते हैं, तो वे सबक सीखते हैं। यह सीखना अनुभवात्मक है, न कि संस्थागत

—और इसलिए अधिक शक्तिशाली।

ऐसे वातावरण में , नैतिकता एक संस्थागत जिम्मेदारी बनना बंद कर देती है और एक निजी बोझ बन जाती है। जो कोई भी नैतिक मार्ग चुनता है , वह व्यक्तिगत जोखिम पर ऐसा करता है। संस्थाएँ न तो सुरक्षा प्रदान करती हैं और न ही प्रोत्साहन। नैतिकता एक नायकत्व का कार्य बन जाती है —और नायकत्व किसी भी टिकाऊ प्रणाली की नींव नहीं हो सकता। प्रणालियाँ सिद्धांतों की आवश्यकता होती हैं , लेकिन जब सिद्धांत शक्ति के लिए असुविधाजनक होते हैं , तो वे शायद ही कभी संस्थागत होते हैं।

यह तनाव भारत में सार्वजनिक सेवाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सेवा की शपथ, नियम, और आचार संहिता मौजूद हैं, लेकिन पालन राजनीतिक प्राधिकरण के साथ संरेखण के माध्यम से फ़िल्टर किया जाता है। अधिकारी जो कानून के भीतर रहते हैं फिर भी सत्ता में बैठे लोगों को असहज करते हैं, वे खुद को अलग-थलग पाते हैं। धीरे-धीरे, संदेश फैलता है: "सुरक्षित" होना "सही" होने से अधिक महत्वपूर्ण है।

वैश्विक दक्षिण के अधिकांश हिस्सों में स्थिति और भी अधिक तीव्र है क्योंकि प्रशासन सीमित संसाधनों और भारी राजनीतिक दबाव के बीच कार्य करता है। फिर भी, उन्नत लोकतंत्रों में चित्र पूरी तरह से भिन्न नहीं है। वहाँ, प्रशासनिक मशीनरी कॉर्पोरेट हितों, वित्तीय संस्थानों, और सुरक्षा प्रतिष्ठानों के साथ निकटता से जुड़ी हुई है। जो नीतियाँ इन हितों को चुनौती देती हैं, वे तकनीकी जटिलताओं में दब जाती हैं।

प्रशासनिक तटस्थता का एक और भ्रांति यह है कि निर्णय "डेटा" और "विशेषज्ञता" पर आधारित होते हैं। यह शायद ही कभी पूछा जाता है कि डेटा कौन इकट्ठा करता है, विशेषज्ञ किसकी सेवा करते हैं, और कौन से प्रश्न विशेषज्ञता के दायरे से बाहर रखे जाते हैं। विशेषज्ञता स्वयं शक्ति का एक उपकरण बन जाती है। नैतिक असहमति को अज्ञानता या भावुकता के रूप में खारिज कर दिया जाता है।

जो लोग प्रणाली पर सवाल उठाते हैं, वे केवल व्यक्तियों के रूप में कार्य नहीं करते; वे एक संरचना को अस्थिर करते हैं जो अपने आप को स्वाभाविक मानती है। इसलिए, प्रश्नकर्ता को हाशिए पर डालना आवश्यक है। वे प्रक्रियाओं में उलझ जाते हैं, उनकी इरादों पर संदेह किया जाता है, और अंततः वे अलग-थलग

हो जाते हैं। इस बीच, जो लोग चुप रहते हैं, जो "प्रक्रिया" का पालन करते हैं, भले ही प्रक्रिया अन्यायपूर्ण हो, उन्हें "विश्वसनीय" माना जाता है।

समय के साथ, प्रशासनिक मशीनरी नैतिक संवेदनशीलता खो देती है। निर्णय अब सही और गलत पर नहीं, बल्कि सुरक्षित और असुरक्षित पर आधारित होते हैं। यह परिवर्तन क्रमिक है; यह वर्षों के संस्थागत सीखने का उत्पाद है। एक बिंदु आता है जब अन्याय को देखना सामान्य हो जाता है, और इसे चुनौती देना असामान्य हो जाता है।

इतिहास में कई उदाहरण हैं जहाँ प्रशासनिक प्रणालियाँ बस "आदेशों का पालन" करती हैं, और बाद में दावा करती हैं कि जिम्मेदारी उनकी नहीं थी। औचित्य हर जगह वही रहता है: "हम केवल नियमों का पालन कर रहे थे।" लेकिन नियम स्वयं को लागू नहीं करते; लोग करते हैं। जब व्यक्ति नैतिक जिम्मेदारी से खुद को अलग कर लेते हैं, तो संस्थाएँ खोखली हो जाती हैं।

लोकतंत्रों में यह खतरा गहरा होता है क्योंकि संस्थाओं में सार्वजनिक विश्वास दांव पर होता है। जब प्रशासन शक्ति के साथ संरेखण में कार्य करता है, तो सार्वजनिक गुस्सा संस्थाओं की ओर मुड़ जाता है। लोकतांत्रिक ढांचा कमजोर होता है, भले ही राजनीतिक शक्ति खुद को दोष से दूर रखने में सफल हो। संस्थाएँ ढाल बन जाती हैं।

इस पूरे व्यवस्था का सबसे खतरनाक परिणाम यह है कि असहमति धीरे-धीरे गायब हो जाती है—न केवल इसलिए कि इसे दबाया जाता है, बल्कि इसलिए भी कि लोग थक जाते हैं और निराश हो जाते हैं। वे सीखते हैं कि बोलने से परिणाम नहीं बदलते, यह केवल नुकसान को आमंत्रित करता है। यह पाठ शक्ति का सबसे मूल्यवान संपत्ति बन जाता है।

भ्रष्टाचार को आमतौर पर नैतिक गिरावट, चरित्र की कमी या व्यक्तिगत लालच के उत्पाद के रूप में समझा जाता है। सार्वजनिक विमर्श अक्सर इसे "बुरे लोगों" की समस्या के रूप में मानता है, जैसे कि कुछ व्यक्तियों को हटाने से प्रणाली को शुद्ध किया जा सकेगा। हालांकि, शक्ति के दृष्टिकोण से, भ्रष्टाचार एक दुर्घटना नहीं है बल्कि एक कार्यात्मक उपकरण है। यह शक्ति के संचालन में उसी भूमिका को निभाता है जो मशीन में चिकनाई का होता है—यह मशीन को नैतिक नहीं बनाता, लेकिन निश्चित रूप

से इसे सुचारू रूप से चलाने में मदद करता है।

शक्ति को स्थिर बनाए रखने के लिए, केवल कानून और वैधता पर्याप्त नहीं हैं; इसके लिए वफादार नेटवर्क की भी आवश्यकता होती है। शक्ति की हर संरचना—लोकतांत्रिक या अधिनायकवादी—एक चयनित समूह पर निर्भर करती है जिसके माध्यम से निर्णय लागू किए जाते हैं। इन अभिनेताओं को केवल आदर्शों के माध्यम से बांधना असंभव है। यहाँ भ्रष्टाचार प्रवेश करता है। अवैध लाभ साझा हितों को उत्पन्न करते हैं, और साझा हित साझा चुप्पी को उत्पन्न करते हैं।

जब लोग एक साथ अवैध गतिविधियों में भाग लेते हैं, तो उनके बीच एक अनलिखित अनुबंध उभरता है। यह अनुबंध कभी भी दस्तावेजीकृत नहीं होता, फिर भी यह आश्चर्यजनक रूप से प्रभावी होता है। प्रत्येक प्रतिभागी जानता है कि यदि एक व्यक्ति भी बाहर निकलने का प्रयास करता है, तो पूरा नेटवर्क खतरे में पड़ सकता है। इसलिए भ्रष्टाचार केवल मौद्रिक विनिमय नहीं रह जाता; यह साझा जोखिम की राजनीति बन जाता है। यह साझा जोखिम वफादारी उत्पन्न करता है—न कि मुख्य रूप से डर के माध्यम से, बल्कि आपसी निर्भरता के माध्यम से।

भारत जैसे देशों में, जहाँ प्रशासनिक प्रणालियाँ विशाल और जटिल हैं, भ्रष्टाचार अक्सर "काम करने" का वास्तविक साधन बन जाता है। धीरे-धीरे, यह असाधारण से सामान्य में बदल जाता है। एक प्रणाली जो नियमों के अनुसार कार्य नहीं करती, उसे नियमों के बाहर से संचालित किया जाने लगता है। इस प्रक्रिया में, नैतिकता अप्रासंगिक हो जाती है और व्यावहारिकता सर्वोच्च मूल्य बन जाती है। ईमानदार लोगों को अप्रभावी माना जाता है; जो समझौता करते हैं उन्हें "व्यावहारिक" के रूप में लेबल किया जाता है।

यह पैटर्न केवल भारत तक सीमित नहीं है। लैटिन अमेरिका, अफ्रीका, पूर्वी यूरोप और यहां तक कि विकसित लोकतंत्रों में भी, भ्रष्टाचार विभिन्न रूपों में बना रहता है—कभी रिश्वत के रूप में, कभी लॉबिंग के रूप में, कभी कानूनी खामियों के रणनीतिक शोषण के रूप में। रूप बदलते हैं, लेकिन कार्य समान रहता है: शक्ति-संरेखित नेटवर्क को बनाए रखना।

भ्रष्टाचार का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह शासकों और अधीनस्थों के बीच की दूरी को कम करता है।

जब अवैध लाभ साझा किए जाते हैं, तो औपचारिक पदानुक्रम ढीले हो जाते हैं और अनौपचारिक संबंध मजबूत होते हैं। ये अनौपचारिक संबंध शक्ति के लिए अधिक विश्वसनीय होते हैं क्योंकि वे नियमों द्वारा नहीं बल्कि व्यक्तिगत हितों द्वारा संचालित होते हैं। नियमों को बदला जा सकता है; हित स्थायी होते हैं।

इसलिए, ईमानदारी ऐसे प्रणाली के लिए अस्थिरता बन जाती है। ईमानदार व्यक्ति केवल नैतिक खतरा नहीं होता, बल्कि एक संरचनात्मक खतरा होता है।

वे नेटवर्क की चुप्पी को बाधित कर सकते हैं , साझा जोखिमों को उजागर कर सकते हैं , और शक्ति को जवाबदेही के क्षेत्र में खींच सकते हैं। इस कारण से , ईमानदारी को अक्सर व्यक्तिगत गुण के रूप में प्रशंसा की जाती है लेकिन संस्थागत रूप से शायद ही प्रोत्साहित किया जाता है। भ्रष्टाचार शक्ति को एक और लाभ देता है : चयनात्मक दंड की क्षमता। जब नियमों का उल्लंघन सामान्य हो जाता है , तो कानून को समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। शक्ति तब यह तय करने की विवेकाधिकार प्राप्त करती है कि कब , किसके खिलाफ, और कैसे प्रवर्तन होगा। कानून नियंत्रण का एक उपकरण बन जाता है न कि न्याय का। शक्ति के निकट लोग सुरक्षित महसूस करते हैं ; जो इससे दूर होते हैं वे असुरक्षित महसूस करते हैं। यह चयनात्मकता अक्सर भारत में स्पष्ट होती है। बड़े घोटाले वर्षों तक बिना निर्णायक कार्रवाई के बने रह सकते हैं , जबकि छोटे उल्लंघनों पर त्वरित दंड लगाया जाता है।
संदेश स्पष्ट है : समस्या अपराध नहीं है , बल्कि अपराधी की स्थिति है। एक कार्य केवल तभी समस्याग्रस्त बनता है जब इसे शक्ति -संरेखित नेटवर्क के बाहर किया जाता है। यही तर्क वैश्विक स्तर पर कार्य करता है। वित्तीय संकट , पर्यावरणीय आपदाएँ , और मानवाधिकार उल्लंघन बार -बार होते हैं , फिर भी जिम्मेदारी शायद ही कभी उन लोगों तक पहुँचती है जिन्होंने निर्णायक विकल्प बनाए।इसके बजाय , दोष को निचले स्तर के अधिकारियों या संस्थानों पर स्थानांतरित कर दिया जाता है। "बलि के बकरों " का यह उत्पादन एक और तंत्र है जिसके माध्यम से शक्ति अपने को सुरक्षित रखती है। भ्रष्टाचार का सबसे खतरनाक परिणाम यह है कि यह नैतिकता को निजी बनाता है। व्यक्तियों से अपेक्षा की जाती है कि वे "प्रणाली

के भीतर "नैतिक बने रहें", भले ही पूरी प्रणाली अनैतिक प्रोत्साहनों के चारों ओर संरचित हो।

परिणाम एक दुविधा है: या तो कोई समझौता करता है या उसे हाशिए पर डाल दिया जाता है। अधिकांश अंततः पहले रास्ते को चुनते हैं। समय के साथ, समाज इस स्थिति को सामान्य बनाने लगता है। भ्रष्टाचार के खिलाफ आक्रोश धीरे-धीरे थकान में बदल जाता है। लोग इस विश्वास को आत्मसात कर लेते हैं कि "यह तो बस ऐसे ही है।" यह resignation शक्ति की सबसे बड़ी जीत है, क्योंकि यह खुली दमन की आवश्यकता को समाप्त कर देता है—समाज बस अपनी अपेक्षाएँ कम कर देता है।

भ्रष्टाचार शक्ति को तात्कालिक स्थिरता प्रदान करता है जबकि साथ ही

दीर्घकालिक क्षय उत्पन्न करता है। संस्थाएँ खोखली हो जाती हैं, विश्वास कम होता है, और प्रभावशीलता घटती है। फिर भी शक्ति अक्सर दीर्घकालिक स्वास्थ्य की तुलना में तात्कालिक सुरक्षा को प्राथमिकता देती है। शक्ति के लिए, यह बेहतर है कि प्रणाली धीरे-धीरे सड़ जाए बजाय इसके कि अचानक चुनौती का सामना करना पड़े। यह भी महत्वपूर्ण है कि भ्रष्टाचार केवल पैसे तक सीमित नहीं है। यह पदों, प्रतिष्ठा, जानकारी, और सुरक्षा के रूप में प्रकट होता है। कभी-कभी, यह पूरी तरह से कानूनी ढाँचों के भीतर कार्य करता है, फिर भी यह नैतिक रूप से संक्षारक रहता है। इसलिए भ्रष्टाचार को केवल "अवैधता" के रूप में समझना अपर्याप्त है; यह स्वयं शक्ति संरचना का व्यावहारिक चेहरा है। विदेशी धन और बाहरी सहायता अक्सर मानवता की चिंता, विकास, और स्थिरता के प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। सार्वजनिक विमर्श में, यह विश्वास विकसित किया जाता है कि बाहरी संसाधन कमजोर समाजों को सशक्त बनाएंगे, संस्थाओं को मजबूत करेंगे, और नागरिकों के जीवन में सुधार करेंगे। फिर भी, जब ये संसाधन शक्ति की संरचना में प्रवेश करते हैं, तो वे एक बहुत अलग भूमिका ग्रहण कर लेते हैं। ये अक्सर उन प्रणालियों को स्थिर और सुरक्षित करने में समाप्त होते हैं जिन्हें वे सुधारने का दावा करते हैं।

समस्या शायद ही कभी पैसे की मात्रा होती है; यह इसकी दिशा और निर्भरता की राजनीति में होती है।जब एक सरकार मुख्य रूप से घरेलू कराधान पर निर्भर करती है, तो एक निहित सामाजिक अनुबंध उभरता है। करदाता प्रश्न पूछता है, और सत्ता में बैठे लोगों को उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यह संबंध असंपूर्ण और असमान हो सकता है, लेकिन जवाबदेही की

एक रेखा स्पष्ट रहती है। जिस क्षण राज्य के राजस्व मुख्य रूप से बाहरी स्रोतों से बहने लगते हैं, वह रेखा धुंधली हो जाती है। तब शक्ति की जीवित रहने की निर्भरता सार्वजनिक सहमति पर कम और बाहरी प्रवाह की निरंतरता पर अधिक होती है। इस बिंदु पर, निर्भरता सहमति को प्रतिस्थापित करती है।

भारत जैसे देशों में, जहां "सहायता" और "विकास" की भाषा दशकों से चल रही है, विदेशी वित्त अक्सर सुधार के बजाय विस्तार का एक उपकरण बन जाता है। हालांकि, यह विस्तार सामाजिक नींव का नहीं बल्कि सुरक्षा

यंत्रणाओं , प्रशासनिक पहुंच , और निगरानी प्रणालियों का होता है। बाहरी संसाधन उन क्षेत्रों की ओर निर्देशित होते हैं जो राजनीतिक मूल्य प्रदान करते हैं —नियंत्रण , स्थिरता , और स्पष्ट उपलब्धियां। शिक्षा , सार्वजनिक स्वास्थ्य , और स्थानीय स्व -शासन जैसे क्षेत्र , जिनका प्रभाव धीमा , असुविधाजनक , और परिवर्तनकारी होता है , अक्सर प्राथमिकता सूची में नीचे धकेल दिए जाते हैं।

वैश्विक मंच पर , यह पैटर्न और भी स्पष्ट हो जाता है। कई देशों में , विदेशी सहायता का एक महत्वपूर्ण हिस्सा सुरक्षा सहयोग , सैन्य प्रशिक्षण , निगरानी प्रौद्योगिकियों , और संचार प्रणालियों में लगाया जाता है। उद्देश्य नागरिकों के दैनिक जीवन में सुधार करना नहीं है , बल्कि शासन को "विश्वसनीय " और "स्थिर " दिखाना है। यहां स्थिरता का मतलब सामाजिक न्याय नहीं है ; इसका मतलब भविष्यवाणी है — भविष्यवाणी कि शक्ति अचानक नहीं गिरेगी।

बाहरी वित्त उन लोगों के लिए एक और लाभ प्रदान करता है जो सत्ता में हैं : यह उन्हें घरेलू विफलताओं से दूर रहने की अनुमति देता है। जब अस्पताल खराब होते हैं या स्कूल गिरते हैं , तो अधिकारी "संसाधन सीमाओं " का हवाला दे सकते हैं। फिर भी, वही अधिकारी सुरक्षा बुनियादी ढांचे या प्रचार अभियानों पर एक साथ खर्च कर सकते हैं। ऐसे मामलों में , मुद्दा कमी नहीं बल्कि प्राथमिकताएं होती हैं। विदेशी सहायता इन प्राथमिकताओं को छिपाने में मदद करती है क्योंकि इसे "अतिरिक्त " दयालु संसाधनों के प्रवाह के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

निर्भरता की राजनीति न केवल राज्य और समाज के बीच के संबंध को पुनः आकार देती है बल्कि सामाजिक

अपेक्षाओं को भी। अधिकारों की भाषा धीरे -धीरे सहायता की भाषा में बदल जाती है। "हमें किस चीज का अधिकार है ?" पूछने के बजाय , लोग पूछने लगते हैं "हमें क्या दिया जाएगा ?" यह बदलाव सूक्ष्म लेकिन गहरा है। अधिकार गरिमा को बढ़ावा देते हैं ; सहायता आभार को प्रोत्साहित करती है। आभार शक्ति के लिए कहीं अधिक सुविधाजनक है।

भारत और विकासशील दुनिया के अधिकांश हिस्सों में , सहायता आमतौर पर परियोजनाओं के रूप में आती है —समय, दायरे , और

महत्वाकांक्षा में सीमित। एक परियोजना समाप्त होती है, एक रिपोर्ट लिखी जाती है, धन समाप्त होता है, और परिवर्तन के प्रवाह के बजाय दस्तावेज़ों का प्रवाह होता है। स्थानीय क्षमता, संस्थागत गहराई, और दीर्घकालिक संरचनाएं पीछे रह जाती हैं। सहायता समस्याओं को हल नहीं करती; यह उन्हें बार-बार प्रबंधित करती है। प्रबंधन शक्ति के लिए उपयोगी है; समाधान जोखिम भरा है।

वैश्विक सहायता में एक शर्तीय आयाम भी है। ये शर्तें हमेशा स्पष्ट नहीं होती हैं, लेकिन वे प्रभावी होती हैं। वे नीति विकल्पों, कूटनीतिक स्थितियों, और आर्थिक दिशाओं को प्रभावित करती हैं। सरकारें इन प्रतिबंधों को "राष्ट्रीय हित" या "अंतरराष्ट्रीय दायित्वों" के रूप में प्रस्तुत करती हैं। नागरिक न तो इन शर्तों को पूरी तरह से जानते हैं और न ही उन पर विचार करने का अवसर होता है। इस प्रकार, शक्ति द्वैध जवाबदेही से बच जाती है—न तो पूरी तरह से अपने लोगों के प्रति उत्तरदायी और न ही बाहरी दाताओं के प्रति पूरी तरह से पारदर्शी।

विदेशी धन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा भी अभिजात वर्ग के नेटवर्क के भीतर घूमता है। परामर्श, सम्मेलन, प्रशिक्षण, और प्रतिनिधित्व के बैनरों के तहत, एक वर्ग उभरता है जो वैश्विक भाषा बोलता है जबकि स्थानीय वास्तविकताओं से अलग रहता है। यह वर्ग शक्ति के लिए मूल्यवान है क्योंकि यह बाहरी अभिनेताओं और घरेलू अधिकारियों के बीच मध्यस्थता करता है। सामाजिक संरचना कमजोर बनी रहती है, लेकिन प्रतिनिधित्व चमकता है।

शायद इस प्रक्रिया का सबसे खतरनाक परिणाम यह है कि शक्ति सुधार की भाषा अपनाती है जबकि इसका दिशा-

निर्देशन बदलती है। सुधार का अर्थ अब नागरिकों के प्रति संस्थाओं को जवाबदेह बनाना नहीं है ; इसका अर्थ उन्हें बाहरी मानकों के साथ संरेखित करना है। मानक बदलते हैं , लेकिन शक्ति का वितरण नहीं बदलता। वैधता बनी रहती है ; समाज कमजोर बना रहता है।

जब नागरिकों को यह विश्वास होने लगता है कि परिवर्तन अब उनके हाथों में नहीं है , तो निर्भरता पूरी तरह से सहमति को विस्थापित कर देती है। निर्णय कहीं और —दूर , अप्राप्य स्थानों में —लिए जाते हुए प्रतीत होते हैं। यह धारणा राजनीतिक निराशा को जन्म देती है। निराश नागरिक

बागी मत बनो ; वे अनुकूलित होते हैं। उनकी resignation शक्ति के लिए एक और संसाधन बन जाती है।

यह महत्वपूर्ण है कि यह जोर दिया जाए कि बाहरी सहायता स्वाभाविक रूप से अच्छी या बुरी नहीं होती। इसके प्रभाव उन संरचनाओं पर निर्भर करते हैं जिनमें यह प्रवाहित होती है। जब सहायता नागरिक संस्थानों को मजबूत करती है , स्थानीय निर्णय लेने को सशक्त बनाती है , और पारदर्शिता बढ़ाती है , तो यह सार्थक परिवर्तन को बढ़ावा दे सकती है। लेकिन जब इसे नियंत्रण के तंत्रों में अवशोषित किया जाता है , तो यह केवल मौजूदा शक्ति को मजबूत करती है।

भारत और कई अन्य देश यह दिखाते हैं कि कैसे बिजली प्रणाली विदेशी पूंजी को प्रभावी ढंग से अवशोषित कर सकती है। वे इसे अपनी भाषा , प्राथमिकताओं और हितों में अनुवादित करते हैं। परिणामस्वरूप , सहायता का नैतिक इरादा और इसका राजनीतिक परिणाम अक्सर विपरीत दिशाओं में चलते हैं। शक्ति का हस्तांतरण हो सकता है , लेकिन शक्ति की तर्कशक्ति नहीं बदलती। कोई भी शासन जो कार्यालय में आता है , वही मौलिक नियमों का पालन करता है : शासक गठबंधन की रक्षा करना , वफादारी को पुरस्कृत करना , और समाज के बाकी हिस्से का प्रबंधन करना। इस मामले में भारत कोई अपवाद नहीं है। यह वही करता है जो हर जगह शक्ति करने की प्रवृत्ति होती है। एकमात्र अंतर यह है कि प्रक्रिया किस भाषा में विकसित होती है —चुनाव , कानूनी तंत्र , और राष्ट्रवादी रेटोरिक। इसलिए , समस्या व्यक्तियों में नहीं बल्कि प्रणाली की संरचना में है , जहां लोगों की सेवा शक्ति के लिए एक खतरा बन जाती है , और संरक्षण इसकी नैतिक जिम्मेदारी बन जाती है।

आलोचना

पूंजीवाद

पूंजीवाद शब्द 'पूंजी' से उत्पन्न होता है, जो न केवल पैसे को संदर्भित करता है बल्कि सभी प्रकार की संचित संपत्ति —भूमि, संपत्ति, मशीनरी, प्रौद्योगिकी, और अन्य उत्पादक संपत्तियों को भी संदर्भित करता है। एक पूंजीवादी ढांचे में, अंतर्निहित सिद्धांत सीधा है: व्यक्ति अपनी क्षमताओं के अनुसार काम कर सकते हैं, लेकिन उन्हें मिलने वाले पुरस्कार मुख्य रूप से इस बात से निर्धारित होते हैं कि उनके पास पहले से कितना पूंजी है। जो लोग अधिक पूंजी के साथ शुरू करते हैं, वे आमतौर पर उच्च लाभ प्राप्त करते हैं और अपनी संपत्ति को अधिक तेजी से बढ़ाते हैं।

बुनियादी रूप से, पूंजीवाद एक आर्थिक प्रणाली है जिसमें अधिकांश संसाधन —भूमि, उद्योग, कारखाने, और वाणिज्यिक उद्यम —निजी स्वामित्व में होते हैं। राज्य की भूमिका तुलनात्मक रूप से सीमित रहती है, जबकि निजी व्यक्ति और कंपनियाँ आर्थिक गतिविधियों को संचालित करती हैं। हालांकि पूंजीवाद कई रूपों में प्रकट होता है, कई मौलिक विशेषताएँ स्थिर रहती हैं:

1. संपत्ति और उत्पादन का निजी स्वामित्व।
2. सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए, जिसे सामान्य सिद्धांत में व्यक्त किया गया है: "सरकार का व्यापार में कोई काम नहीं है।"
3. बाजार -प्रेरित प्रतिस्पर्धा, जहां व्यवसाय एक खुले बाजार में काम करते हैं।
4. पूंजी संचय, जहां मौजूदा धन निवेश के माध्यम से और अधिक धन उत्पन्न करता है।

पूंजीवाद के सबसे प्रसिद्ध दावों में से एक इसकी कथित विकेंद्रीकरण है। सिद्धांत में , व्यक्तियों को अपने स्वयं के उद्यम बनाने की स्वतंत्रता होती है , और हर साल हजारों नए व्यवसाय उभरते हैं। ये फर्में स्वतंत्र रूप से काम करती हैं , एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करती हैं , जो नवाचार और आर्थिक दक्षता को बढ़ावा देने के लिए मानी जाती हैं।

इसके विपरीत , साम्यवादी या समाजवादी प्रणालियों में , राज्य आमतौर पर उत्पादन के प्रमुख क्षेत्रों पर नियंत्रण रखता है। उद्योगों और संसाधनों को केंद्रीकृत योजना के माध्यम से निर्देशित किया जाता है , जिसका अर्थ है कि प्रमुख आर्थिक निर्णय एक अपेक्षाकृत छोटे शासक अभिजात वर्ग के हाथों में होते हैं। इस प्राधिकरण का संकेंद्रण पूरे अर्थव्यवस्था के प्रबंधन को असाधारण रूप से जटिल बनाता है और अक्सर अक्षमता के प्रति प्रवृत्त होता है।

शीत युद्ध के दौरान सोवियत संघ पर अमेरिका की अंततः प्रभुत्व की सबसे अधिक उद्धृत व्याख्याओं में से एक यही संरचना में अंतर है। अमेरिका में पूंजीवादी मॉडल लचीलापन और विकेंद्रीकरण की विशेषता थी , जिससे हजारों व्यवसाय स्वतंत्र रूप से काम कर सके। प्रत्येक उद्यम दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा करता था , और यह प्रतिस्पर्धा —लाभ की खोज द्वारा प्रेरित —निरंतर नवाचार को प्रोत्साहित करती थी। इसके विपरीत , सोवियत संघ की कठोर केंद्रीय योजना अक्सर ठहराव , संसाधनों का गलत आवंटन , और व्यक्तिगत पहल के दमन की ओर ले जाती थी।

लाभ, वास्तव में , पूंजीवादी प्रणालियों के भीतर सबसे शक्तिशाली प्रोत्साहन रहा है। फर्में जीवित रहने और विस्तार करने के लिए लागत को कम करने ,

दक्षता बढ़ाने , और नए उत्पादों को पेश करने का प्रयास करती हैं। पिछले दो शताब्दियों में , यह लाभ-प्रेरित प्रेरणा असाधारण तकनीकी प्रगति के साथ मेल खाती है : ऑटोमोबाइल , विमानन , कंप्यूटिंग , इंटरनेट , स्मार्टफोन , और हाल ही में , कृत्रिम बुद्धिमत्ता। पूंजीवाद के समर्थक तर्क करते हैं कि कोई अन्य आर्थिक प्रणाली इतनी तेजी से प्रगति उत्पन्न नहीं कर पाई है।

वे यह भी उजागर करते हैं कि पिछले पचास वर्षों में , वैश्विक गरीबी दरें घट गई हैं , साक्षरता बढ़ी है , और औसत जीवन स्तर में महत्वपूर्ण सुधार हुआ है।

पूंजीवाद की कथा भी आकांक्षा पर आधारित है। यह घोषणा करता है कि कोई भी —पृष्ठभूमि की परवाह किए बिना —प्रतिभा , मेहनत , और दृढ़ता के माध्यम से शीर्ष पर पहुंच सकता है। बिल गेट्स , एलोन मस्क , और जेफ बेजोस जैसे व्यक्तियों की जीवनी सफलता की कहानियाँ इस विश्वास को मजबूत करती हैं कि असाधारण धन और प्रभाव उन लोगों के लिए प्राप्त किया जा सकता है जो नवाचार करते हैं और दृढ़ रहते हैं।

हालांकि , यह कथा इक्कीसवीं सदी में स्पष्ट रूप से भिन्न प्रतीत होती है। वे कंपनियाँ जो कभी उद्यमिता की स्वतंत्रता के प्रतीक के रूप में मनाई जाती थीं —अमेज़न , एप्पल , गूगल , और फेसबुक —इतनी विशाल और प्रभावशाली हो गई हैं कि वे लगभग निजी सरकारों की तरह काम करती हैं। अनगिनत छोटे प्रतिस्पर्धियों से भरे बाजार के बजाय , हम एक ऐसे वातावरण में रहते हैं जो एकाधिकार वाली कंपनियों द्वारा नियंत्रित है , जो बाजारों को आकार देती हैं , व्यक्तिगत डेटा को नियंत्रित करती हैं , और सार्वजनिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जबकि पूंजीवाद ने महत्वपूर्ण नवाचार को उत्प्रेरित किया , इसने धन के संकेंद्रण के अभूतपूर्व स्तर भी उत्पन्न किए हैं , जो गिल्डेड एज की याद दिलाते हैं। आज, एक छोटे समूह के अरबपतियों के पास कई अरब सामान्य लोगों की तुलना में अधिक धन है।

इसके अलावा , यह पूंजीवादी वादा कि "कोई भी शीर्ष पर पहुंच सकता है " अधिकांश व्यक्तियों के लिए बड़े पैमाने पर भ्रांतिपूर्ण साबित हुआ है। वर्ग , जाति , लिंग , जातीयता , और भूगोल की संरचनात्मक असमानताएँ

निर्णायक तरीकों से अवसर को आकार देती रहती हैं। हर एक उद्यमी जो अरबपति बनता है , लाखों लोग असुरक्षित और शोषणकारी परिस्थितियों में काम करते हैं : कम वेतन पर भोजन वितरित करने वाले गिग श्रमिक , निगरानी प्रणालियों के माध्यम से निगरानी किए जाने वाले गोदाम कर्मचारी , या वैश्विक दक्षिण में उन कारखानों के श्रमिक जो समृद्ध देशों के उपभोक्ताओं के लिए सामान का उत्पादन करते हैं। यहां तक कि

पूरे विश्व में यह व्यापक रूप से माना जाता है कि पूंजीवाद ने वैश्विक गरीबी को कम किया है, लेकिन यह एक विवादास्पद विषय है; जबकि अत्यधिक गरीबी में कमी आई है, नए शोषण के रूप, ऋण पर निर्भरता, और पारिस्थितिकी का विनाश बढ़ा है।

इस प्रकार, लाभ प्रोत्साहन जो कभी तकनीकी प्रगति को प्रेरित करता था, अब अक्सर हेरफेर को बढ़ावा देता है—चाहे वह इलेक्ट्रॉनिक्स में योजनाबद्ध अप्रचलन के माध्यम से हो, शोषणकारी श्रम प्रणालियों के माध्यम से, या जीवाश्म ईंधन उद्योगों के माध्यम से जो ग्रह की जीवित रहने की कीमत पर लाभ जमा करते हैं। पूंजीवाद नवाचार करना जारी रखता है, लेकिन बढ़ती हुई तरीकों से जो निजी संचय को सामूहिक मानव कल्याण पर प्राथमिकता देते हैं।

पूंजीवाद अक्सर खुद को विकल्पों के सिस्टम के रूप में प्रस्तुत करता है। सिद्धांत में, एक मुक्त बाजार जीवन के हर पहलू में उपभोक्ता विकल्पों को बढ़ाता है। भारत को एक उदाहरण के रूप में लें: दशकों तक, राज्य द्वारा संचालित दूरदर्शन एकमात्र टेलीविजन चैनल था। जब मीडिया क्षेत्र को निजी कंपनियों के लिए खोला गया, तो दर्जनों चैनल बाजार में आ गए। उपभोक्ताओं के पास अचानक अधिक विकल्प, अधिक विविधता, और शायद अधिक मनोरंजन मूल्य था। मोबाइल नेटवर्क, खुदरा खरीदारी, और यहां तक कि खाद्य वितरण में भी समान प्रवृत्तियाँ हुईं - पूंजीवाद ने जो पहले समान था उसे विविधता दी।

पूंजीवाद के समर्थक इस विकल्पों की प्रचुरता को इसकी श्रेष्ठता के प्रमाण के रूप में देखते हैं। वे तर्क करते हैं कि निजीकरण स्वतंत्रता, विविधता और दक्षता पैदा करता है। लेकिन कहानी यहीं समाप्त

नहीं होती।

वही प्रणाली जो विकेंद्रीकरण और विविधता का वादा करती है , अक्सर विरोधाभासी रूप से संकेंद्रण और एकाधिकार की ओर ले जाती है। जबकि पूंजीवाद किसी को भी व्यवसाय शुरू करने की अनुमति देता है , वास्तविकता एक अलग पैटर्न प्रकट करती है : छोटे खिलाड़ी या तो प्रतिस्पर्धा द्वारा कुचले जाते हैं या बड़े निगमों द्वारा अवशोषित कर लिए जाते हैं। समय के साथ , जो एक जीवंत बाजार के रूप में शुरू होता है , वह कुछ विशाल कंपनियों द्वारा हावी हो जाता है।

यह प्रवृत्ति सैद्धांतिक नहीं है ; यह हमारी वर्तमान वास्तविकता है। भारत के ई-कॉमर्स क्षेत्र में , फ्लिपकार्ट कभी एक घरेलू सफलता थी।

कहानी —जब तक वॉलमार्ट ने इसे खरीद नहीं लिया। खाद्य वितरण में, ज़ोमैटो और स्विग्गी ने प्रभावी रूप से बाजार को विभाजित कर लिया है, जिससे नए प्रवेशकों के लिए लगभग कोई स्थान नहीं बचा है। वैश्विक स्तर पर, स्थिति और भी स्पष्ट है: गूगल सर्च इंजनों पर हावी है, अमेज़न ऑनलाइन रिटेल को नियंत्रित करता है, मेटा सोशल नेटवर्किंग पर शासन करता है, और एप्पल और माइक्रोसॉफ्ट डिजिटल पारिस्थितिकी तंत्र को आकार देते हैं।

उपभोक्ता विकल्प की कथित स्वतंत्रता अब अक्सर एक भ्रांति है। हाँ, टीवी पर कई चैनल हैं, लेकिन अधिकांश कुछ समूहों के स्वामित्व में हैं। हाँ, आपके फोन में अनगिनत ऐप्स हैं, लेकिन वे ज्यादातर एक ही सेट के तकनीकी दिग्गजों के हैं। विविधता की उपस्थिति के पीछे एक अभूतपूर्व शक्ति का संकेंद्रण है।

एकाधिकारों का उदय असमानता के साथ सीधे संबंध रखता है। जब एक कंपनी किसी क्षेत्र पर हावी हो जाती है, तो वह कीमतें निर्धारित कर सकती है, प्रतिस्पर्धा को दबा सकती है, और श्रमिकों का शोषण कर सकती है। लाभ कुछ कार्यकारी और शेयरधारकों के हाथों में जमा हो जाते हैं, जबकि लाखों श्रमिक स्थिर वेतन और असुरक्षित नौकरियों का सामना करते हैं। दुनिया के सबसे अमीर 1% के पास अब मानवता के निचले आधे हिस्से की तुलना में अधिक संपत्ति है। भारत में भी, यह पैटर्न दोहराया जाता है: जबकि मुकेश अंबानी या गौतम अडानी जैसे अरबपति अपने साम्राज्य का विस्तार करते हैं, साधारण नागरिक बढ़ती कीमतों और अस्थिर रोजगार के साथ संघर्ष करते हैं।

इस प्रकार, पूंजीवाद द्वारा मनाया जाने वाला "चुनाव की स्वतंत्रता" अक्सर एक गहरे वास्तविकता

को छिपाता है : कंपनियों के लिए प्रभुत्व की स्वतंत्रता, और बाकी सभी के लिए असमानता। जो विविधता के रूप में शुरू होता है, वह एकाधिकार के रूप में समाप्त होता है; जो अवसर के रूप में शुरू होता है, वह पदानुक्रम के रूप में समाप्त होता है।

जब कोई कंपनी एकाधिकार शक्ति प्राप्त करती है, तो इसका प्रभाव उपभोक्ताओं पर गंभीर होता है। प्रतिस्पर्धियों की अनुपस्थिति में, एकाधिकारकर्ता कीमतें बढ़ा सकता है, सेवाओं को सीमित कर सकता है, या अपने ग्राहकों का शोषण कर सकता है। आज भारत में, कई लोग मानते हैं कि जियो की टेलीकॉम क्षेत्र में प्रभुत्व ने वोडाफोन और एयरटेल जैसे प्रतिस्पर्धियों को कगार पर ला दिया है, जिससे उपभोक्ताओं के पास वास्तविक विकल्प कम और कीमतें अधिक हो गई हैं।

छिपी हुई लागत। एक बार जब एक विशालकाय बाजार पर नियंत्रण कर लेता है, तो प्रतिस्पर्धा का वादा जल्दी ही समाप्त हो जाता है।

पूंजीवाद अक्सर एक क्रूर तर्क के तहत काम करता है: या तो आप दूसरों को निगल लेते हैं, या आप खुद निगल लिए जाते हैं। कल्पना कीजिए एक मछलियों की झील—या तो एक छोटी मछली दूसरों को खा जाती है ताकि वह बढ़ सके, या एक बड़ी मछली उसे खा जाएगी। यही कॉर्पोरेट विलय और अधिग्रहण की प्रक्रिया है।

भारतीय ई-कॉमर्स और फैशन रिटेल के मामले को लें। जबॉन्ग को मिंत्रा ने अपने में समाहित कर लिया। मिंत्रा को फिर फ्लिपकार्ट ने अपने में समाहित कर लिया। अंततः, फ्लिपकार्ट को वही दुविधा का सामना करना पड़ा: अमेज़न के सामने समर्पण करना या किसी अन्य वैश्विक विशालकाय के सामने। वॉलमार्ट ने हस्तक्षेप किया और इसे अधिग्रहित कर लिया। पूंजीवाद में जो "विकास" दिखता है, वह अक्सर अधिग्रहण की एक श्रृंखला के अलावा कुछ नहीं है जब तक कि केवल कुछ दिग्गज ही रह जाते हैं।

इस चक्र के सबसे स्पष्ट उदाहरण वैश्विक प्रौद्योगिकी में देखे जा सकते हैं। फेसबुक (अब मेटा) एक एकाधिकार है न केवल अपने प्लेटफॉर्म के कारण, बल्कि इसलिए कि उसने इंस्टाग्राम और व्हाट्सएप को निगल लिया—जो दुनिया में सबसे अधिक उपयोग किए जाने वाले दो ऐप हैं। गूगल का प्रभुत्व और भी व्यापक है: यूट्यूब, एंड्रॉइड, गूगल मैप्स, जीमेल, गूगल ड्राइव, गूगल पे, गूगल क्लाउड—सभी इसके नियंत्रण में हैं। कुछ ही लोग जानते हैं कि गूगल की मूल कंपनी, अल्फाबेट, ने चुपचाप 240 से अधिक कंपनियों का अधिग्रहण किया है, जो एआई स्टार्टअप से लेकर रोबोटिक्स और स्वास्थ्य-तकनीक तक फैली हुई

हैं।

यह पैटर्न केवल सिलिकॉन वैली तक सीमित नहीं है। भारत में , रिलायंस इंडस्ट्रीज एक समान मॉडल को दोहरा रही है : खुदरा श्रृंखलाओं , डिजिटल प्लेटफार्मों और विभिन्न क्षेत्रों में स्टार्टअप्स का अधिग्रहण करना , जैसे कि किराने का सामान से लेकर स्ट्रीमिंग सेवाओं तक। अदानी समूह ने भी आक्रामक रूप से विस्तार किया है , बंदरगाहों , हवाई अड्डों , ऊर्जा और मीडिया का अधिग्रहण किया है। जो उभरता है वह एक मुक्त और प्रतिस्पर्धात्मक बाजार का चित्र नहीं है , बल्कि कुछ कॉर्पोरेट साम्राज्यों का है जो निजी सरकारों के समान हैं।

इस अंतहीन अधिग्रहण चक्र का परिणाम उपभोक्ता के लिए अधिक स्वतंत्रता या उद्यमी के लिए अवसर नहीं है —यह

बढ़ती असमानता है। धन कुछ हाथों में संकेंद्रित हो जाता है, जबकि छोटे व्यवसाय गायब हो जाते हैं, श्रमिकों की सौदेबाजी की शक्ति कम हो जाती है, और उपभोक्ता उन पारिस्थितिक तंत्रों में फंस जाते हैं जिनसे वे भाग नहीं सकते।

इस प्रकार, "अधिग्रहण करें या अधिग्रहित हों" सिद्धांत केवल एक आर्थिक रणनीति नहीं है—यह पूंजीवाद का डीएनए है। और इसका प्राकृतिक उत्पाद एकाधिकार, शोषण, और चरम असमानता है।

सिद्धांत में, पूंजीवाद प्रतिस्पर्धा, समान अवसर, और सफल होने की स्वतंत्रता का वादा करता है। हालांकि, वास्तविकता में, खेल का मैदान बहुत अधिक झुका हुआ है। बड़े निगम और धनी व्यक्ति संसाधनों, बाजारों, और बुनियादी ढांचे के विशाल हिस्सों पर नियंत्रण रखते हैं, जिससे छोटे व्यवसायों के लिए प्रतिस्पर्धा करना लगभग असंभव हो जाता है। उदाहरण के लिए, आज भारत में, जियो जैसी कंपनियाँ टेलीकॉम में हावी हैं, जबकि छोटे प्रदाता तुलनीय सेवाएँ प्रदान करने के बावजूद ग्राहक आधार बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। वैश्विक स्तर पर, अमेज़न, गूगल, और फेसबुक जैसी तकनीकी दिग्गजों ने एकाधिकार पारिस्थितिकी तंत्र बनाए हैं जो छोटे प्रतिस्पर्धियों को निगल लेते हैं या उन्हें विलय करने के लिए मजबूर करते हैं।

पिछले 30-40 वर्षों में, नवउदारवादी नीतियों की पुनरुत्थान ने इस असमानता को और तेज कर दिया है। धन लगातार संकेंद्रित होता जा रहा है: 2017 तक, वैश्विक जनसंख्या के सबसे धनी 1% ने नए बनाए गए धन का 80% से अधिक कब्जा कर लिया। चौंकाने वाली बात यह है कि केवल 42 व्यक्तियों के पास दुनिया की आधी जनसंख्या के बराबर धन है। यह इस बात का प्रमाण नहीं

है कि अरबों लोग आलसी हैं जबकि कुछ “ज्यादा मेहनत करते हैं।” प्रणाली उन लोगों के पक्ष में संरचित है जिनके पास पहले से ही पूंजी है। दूसरे शब्दों में, “धन धन को जन्म देता है।” जो लोग धन के साथ शुरू करते हैं वे आसानी से निवेश, अधिग्रहण, और विस्तार कर सकते हैं, जबकि गरीब लोग कमी के चक्र में फंसे रहते हैं। धन के बिना, वंचित लोग शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, या व्यवसाय में निवेश करने के लिए संघर्ष करते हैं, जिससे वे धन जमा करने में असमर्थ रहते हैं। ओक्सफैम के अनुसार 2025

रिपोर्ट के अनुसार, दुनिया के सबसे अमीर 1% ने अपनी संपत्ति में वृद्धि की है $33.9 ट्रिलियन 2015 से, जो वैश्विक गरीबी को 22+ बार समाप्त करने के लिए पर्याप्त है।

यह संरचनात्मक असंतुलन कुछ सरकारों को मुफ्त या सब्सिडी वाली शिक्षा, सूक्ष्म ऋण, और सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों जैसी पहलों के साथ हस्तक्षेप करने के लिए प्रेरित किया है। फिर भी, ये उपाय अक्सर वैश्विक एकाधिकार की भारी शक्ति के खिलाफ अपर्याप्त होते हैं। सच्चाई यह है कि वर्तमान रूप में पूंजीवाद मेहनत या नवाचार को समान रूप से पुरस्कृत नहीं करता—यह मौजूदा धन को पुरस्कृत करता है। आधुनिक उदाहरण प्रचुर मात्रा में हैं: कॉर्पोरेट दिग्गजों की छाया में स्टार्टअप या तो कम मूल्य पर अधिग्रहित किए जाते हैं या पूरी तरह से बाजार से बाहर धकेल दिए जाते हैं, जो "अधिग्रहण करो या अधिग्रहित हो जाओ" की क्रूर वास्तविकता को दर्शाता है। इस बीच, सामान्य श्रमिक अक्सर स्थिर वेतन, अस्थिर रोजगार, और जीवन यापन की बढ़ती लागत का सामना करते हैं, जो गरीबी के चक्र को और मजबूत करता है।

आसान शब्दों में, समकालीन पूंजीवाद असमानता को बढ़ाता है, शक्ति को संकेंद्रित करता है, और प्रणालीगत बाधाओं को स्थायी बनाता है जो वास्तविक ऊर्ध्वगामी गतिशीलता को रोकती हैं। यह केवल प्रयास या प्रतिभा का मामला नहीं है; प्रणाली के नियम पहले से शीर्ष पर मौजूद लोगों के पक्ष में हैं।

पूंजीवाद की एक और बड़ी विफलता, और शायद इसकी सबसे खतरनाक, पर्यावरण और समाज का विनाश है। हाँ, पिछले सदी में, कई क्षेत्रों में गरीबी की दरें घट गई हैं और साक्षरता और शिक्षा के स्तर बढ़े हैं—

लेकिन उसी अवधि में हमने जो पर्यावरणीय क्षति की है , वह हजारों वर्षों में ग्रह ने नहीं देखी है। वनों की कटाई अभूतपूर्व गति से बढ़ रही है , जैव विविधता तेजी से गायब हो रही है , और जलवायु परिवर्तन पहले से कहीं अधिक तेज हो रहा है।

कारण सरल है : पूंजीवाद के तहत , कंपनियाँ लाभ को सभी चीजों से ऊपर प्राथमिकता देती हैं। वनों की कटाई , प्रदूषण , या पारिस्थितिकी तंत्र के पतन के वैश्विक परिणामों की अनदेखी की जाती है जब तक कि उनके

बैलेंस शीट बढ़ते रहते हैं। लाभ की इस निरंतर खोज से न केवल ग्रह को नुकसान होता है बल्कि इसके सामाजिक परिणाम भी विनाशकारी होते हैं। जबकि प्रणाली सिद्धांत रूप से उपभोक्ताओं को विकल्प देती है, वास्तविकता को कॉर्पोरेट शक्ति द्वारा हेरफेर किया जाता है। आधुनिक विज्ञापन इच्छाओं और व्यवहारों को आकार देता है, अक्सर लोगों की भलाई के खिलाफ। वैश्विक फास्ट-फूड और मीठे पेय उद्योगों पर विचार करें। विज्ञापन अत्यधिक संसाधित, उच्च वसा, और रासायनिक रूप से संशोधित खाद्य पदार्थों को खुशी और सुविधा के स्रोत के रूप में बढ़ावा देते हैं। सामाजिक दबाव—दोस्तों, परिवार, और साथियों को इन उत्पादों का उपभोग करते हुए देखना—व्यक्तियों को इन अस्वास्थ्यकर आदतों की ओर धकेलता है। आज, 34% से अधिक अमेरिकी वयस्क मोटे हैं, और अमेरिका उन देशों में से एक है जहाँ आहार और जीवनशैली से संबंधित कैंसर की दरें उच्च हैं। ये पूंजीवादी समाज हैं जहाँ कंपनियाँ हानिकारक उत्पादों को आक्रामक रूप से विपणन करने के लिए स्वतंत्र हैं, सभी लाभ के लिए।

समस्या वैश्विक स्तर पर फैली हुई है। भारत में, संसाधित खाद्य श्रृंखलाओं और चीनी से भरे पेय पदार्थों की तेज वृद्धि ने शहरी क्षेत्रों में मोटापे और मधुमेह में वृद्धि की है। यूरोप में, मांस और डेयरी उद्योग दक्षिण अमेरिका में बड़े पैमाने पर वनों की कटाई जारी रखते हैं ताकि बढ़ती मांग को पूरा किया जा सके। इस बीच, तकनीकी दिग्गज और उपभोक्ता वस्त्र कंपनियाँ प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करती हैं बिना किसी जवाबदेही के, जलवायु आपदाओं में योगदान करती हैं—पाकिस्तान में बाढ़ से लेकर यूरोप और उत्तरी अमेरिका में जंगल की आग

तक।

पूंजीवाद की लाभ के प्रति जुनून, वैश्विक विपणन और अनियंत्रित कॉर्पोरेट शक्ति के साथ मिलकर, यह सुनिश्चित करता है कि कुछ के लिए तात्कालिक लाभ सभी के लिए दीर्घकालिक लागत पर आते हैं। जबकि बाजार "चुनाव की स्वतंत्रता" का जश्न मनाते हैं, यह स्वतंत्रता मुख्य रूप से भ्रांतिपूर्ण होती है जब प्रणाली आवश्यकताओं, इच्छाओं, और उपभोग के पैटर्न को हेरफेर करती है, जो सामाजिक स्वास्थ्य संकट और पर्यावरणीय पतन दोनों को बढ़ावा देती है।

वास्तव में, लाभ की दौड़ में, कंपनियों ने जानबूझकर उपभोक्ताओं को हानिकारक उत्पाद खरीदने के लिए मजबूर किया है या

अनावश्यक। उनकी रणनीति सरल है : उन चीजों के लिए मांग पैदा करना जिनकी लोगों को आवश्यकता नहीं है और उन्हें यह विश्वास दिलाना कि इन उत्पादों का मालिक होना उन्हें सामाजिक सम्मान , स्थिति या खुशी देगा। क्लासिक उदाहरणों में तंबाकू और शराब उद्योग शामिल हैं , जो न केवल उत्पाद का विज्ञापन करते हैं बल्कि इसके सेवन के साथ आने वाले प्रतिष्ठा , गर्व या सामाजिक स्वीकृति के भ्रम का भी विज्ञापन करते हैं।

लेकिन उपभोक्ता व्यवहार पर पूंजीवाद का प्रभाव इन चरम सीमाओं से कहीं आगे बढ़ता है। इसने निरंतर उपभोक्तावाद की एक संस्कृति को जन्म दिया है। आज के जीवन की तुलना 50 साल पहले के जीवन से करें। तब , एक सामान्य व्यक्ति को एक घर , एक स्थिर नौकरी और decent जीवन जीने के लिए बुनियादी भोजन की आवश्यकता होती थी। अब , समाज में "सम्माननीय " या "सफल" माने जाने के लिए , लोगों को कई गैजेट्स , कारें , स्मार्टफोन , ब्रांडेड कपड़े रखने की उम्मीद की जाती है , और उन्हें लगातार अपग्रेड करना होता है। हर साल नवीनतम आईफोन , नए कार मॉडल , या फैशनेबल वस्तुओं का मालिक होना सामाजिक स्वीकृति के लिए आवश्यक माना जाता है।

यह आकस्मिक नहीं है। प्रणाली को निरंतर उपभोग को अधिकतम करने के लिए डिज़ाइन किया गया है , क्योंकि जितना अधिक लोग खरीदते हैं , कंपनियों के लिए उतना ही अधिक लाभ होता है। विज्ञापन , प्रभावशाली विपणन , और एआई-चालित उत्पाद सिफारिशों ने 2025 में इस दबाव को बढ़ा दिया है।

पूंजीवाद की तर्कशक्ति संसाधनों को अनंत और उपभोग को प्रगति के अंतिम माप के रूप में मानती है , जबकि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। कच्चे माल ,

साफ पानी , दुर्लभ खनिज , और ऊर्जा सभी सीमित हैं। फिर भी, प्रणाली लगातार अधिक खरीदारी , अधिक अपग्रेड , अधिक "नए" चीजों के लिए दबाव डालती है —पर्यावरण या सामाजिक लागत की परवाह किए बिना। अंत में , यह लाभ -प्रेरित , अनंत -उपभोग मॉडल कंपनियों को लाभ पहुंचाता है , न कि समाज या ग्रह को।

पूंजीवाद के सबसे चिंताजनक परिणामों में से एक है बड़े पैमाने पर पर्यावरणीय विनाश जो हम आज देख रहे हैं। लेकिन

यह विनाश आकस्मिक नहीं है —यह एक प्रणाली का प्रत्यक्ष परिणाम है जिसे उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने के लिए मानव असुरक्षाओं का शोषण करने के लिए डिज़ाइन किया गया है। कंपनियाँ लगातार हमारी चिंताओं, कमियों और इच्छाओं की पहचान करती हैं, फिर "उन्हें ठीक करने" का वादा करने वाले उत्पाद बेचती हैं। यदि आपकी त्वचा काली है, तो fairness cream खरीदें। यदि आपके पास अवांछित बाल हैं, तो लेजर उपचार खरीदें। यदि आपका चेहरा, होंठ, या नाक किसी सेलिब्रिटी से मेल नहीं खाता है, तो कॉस्मेटिक सर्जरी खरीदें। यदि आप छोटे हैं, तो वृद्धि पेय खरीदें। यह मनोवैज्ञानिक हेरफेर अंतहीन उपभोक्तावाद को बढ़ावा देता है जबकि ग्रह के संसाधनों को समाप्त करता है।

पर्यावरणीय और सामाजिक नुकसान के अलावा, पूंजीवाद लोकतंत्र की रक्षा करने में increasingly विफल हो रहा है। ऐतिहासिक रूप से, पूंजीवाद लोकतांत्रिक शासन के साथ अधिक संगत रहा है बनाम साम्यवाद, जो अक्सर तानाशाही में गिर गया। पूंजीवाद ने दशकों तक लोकतांत्रिक संरचनाओं के साथ फल-फूल किया। लेकिन प्रणाली तब विफल होने लगती है जब कंपनियाँ इतनी विशाल और समृद्ध हो जाती हैं कि वे सरकारों की शक्ति से अधिक शक्ति रखती हैं। आधुनिक उदाहरण इसे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं:

यू.एस. में राजनीतिक लॉबिंग: कंपनियाँ राजनेताओं और अभियानों को वित्तपोषण करती हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि कानून उनके लाभ के पक्ष में हों। यह कानूनी रूप से स्वीकृत प्रभाव अक्सर नीतियों का परिणाम बनता है जो नागरिकों की भलाई के मुकाबले कॉर्पोरेट हितों को प्राथमिकता देती हैं।

भारत और चुनावी बांड : यह लगभग असंभव है कि यह ट्रैक किया जा सके कि कौन सी कंपनियाँ कौन से राजनीतिक दलों को वित्तपोषण कर रही हैं। व्यवहार में, व्यवसाय उन पार्टियों का समर्थन करते हैं जो उनके लाभ को अधिकतम करती हैं, अक्सर नीतियों, नियमों, और भूमि बिक्री को अपने लाभ के लिए आकार देते हैं।

वैश्विक पर्यावरणीय शोषण: बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ सरकारों पर दबाव डालती हैं कि वे खनन परियोजनाओं, वनों की कटाई, या औद्योगिक क्षेत्रों को मंजूरी दें, भले ही ये क्रियाएँ स्थानीय समुदायों और पारिस्थितिकी तंत्र को नुकसान पहुँचाती हों। उदाहरण के लिए, 2025 में, अमेज़न के कुछ हिस्सों में वनों की कटाई वैश्विक कृषि व्यवसाय के विस्तार के कारण तेज़ हो गई, अक्सर निहित या स्पष्ट सरकारी स्वीकृति के साथ।

तकनीकी एकाधिकार और एआई नियमन : प्रमुख तकनीकी कंपनियाँ दुनिया भर में सरकारों पर एआई नियमों को स्थगित या कमजोर करने के लिए दबाव डालती हैं, जिससे अनियंत्रित निगरानी, डेटा संग्रहण, और चुनावों पर प्रभाव डालने की अनुमति मिलती है।

इन परिदृश्यों में, सरकारें अक्सर कॉर्पोरेट हितों की कठपुतलियाँ बन जाती हैं, लोगों, लोकतंत्र और पर्यावरण की तुलना में लाभ को प्राथमिकता देती हैं। तर्क सरल है : प्रणाली धन के संचय को पुरस्कृत करती है, और धन राजनीतिक शक्ति में बदल जाता है। इस बीच, नागरिक लागत उठाते हैं—पारिस्थितिकीय विनाश, सामाजिक असमानता, और हेरफेर किए गए लोकतांत्रिक प्रक्रियाएँ।

पूंजीवाद, बिना नियंत्रण के, लोकतंत्र को एक प्रदर्शन में, उपभोक्तावाद को एक सामाजिक अनिवार्यता में, और कंपनियों को राज्यों से अधिक शक्तिशाली संस्थाओं में बदल देता है। आज हम जिन पर्यावरणीय, सामाजिक, और राजनीतिक संकटों का सामना कर रहे हैं, वे इस लाभ-प्रेरित प्रणाली के सीधे परिणाम हैं।

कुछ इतिहासकारों का मानना है कि 10 वीं सदी के आसपास सामंतवाद पूंजीवाद का एक प्रारंभिक पूर्ववर्ती था। जमींदारों ने विशाल क्षेत्रों पर नियंत्रण रखा, जबकि किसान और श्रमिक भूमि पर काम करते थे। अधिकांश फसल और लाभ जमींदारों के पास गया, जबकि श्रमिक मुश्किल से जीवित रहे। तर्क सरल था : स्वामित्व और लाभ उन लोगों के पास रहे जो संपत्ति रखते थे, न कि उन लोगों के पास जिन्होंने श्रम किया।

आज भी, तर्क वही है। यदि आप एप्पल जैसी कंपनी में काम करते हैं, तो आपका समय, कौशल और श्रम उत्पाद उत्पन्न करते हैं, लेकिन आपकी वेतन निश्चित होती

है। वास्तविक लाभ शेयरधारकों के पास जाते हैं - लोग जो शायद यह भी नहीं जानते कि एक आईफोन कैसे बनाया जाता है, लेकिन जो केवल इसलिए बड़े लाभ कमाते हैं क्योंकि वे शेयर के मालिक हैं। दूसरे शब्दों में, पैसा पैसा लाता है: जिनके पास पूंजी है, वे इसे बढ़ा सकते हैं, जबकि श्रमिक वेतन पर निर्भर रहते हैं।

आधुनिक पूंजीवाद 16 वीं –17 वीं सदी के यूरोप में, विशेष रूप से ब्रिटेन और नीदरलैंड में आकार लेना शुरू हुआ। एम्स्टर्डम स्टॉक एक्सचेंज (1602) पहला स्टॉक

एक्सचेंज , और डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूंजी जुटाने के लिए शेयर जारी करने की शुरुआत की। 18 वीं सदी में , स्कॉटिश अर्थशास्त्री एडम स्मिथ , जिन्हें अक्सर पूंजीवाद का पिता कहा जाता है , ने इस प्रणाली को एक स्पष्ट सिद्धांतात्मक ढांचा दिया। 'द वेल्थ ऑफ नेशंस ' (1776) में , उन्होंने laissez-faire अर्थशास्त्र का समर्थन किया , जहां सरकारें न्यूनतम हस्तक्षेप करती हैं। उन्होंने समझाया कि कैसे प्रतिस्पर्धा —"अदृश्य हाथ "—नवाचार को प्रेरित करती है। यदि एक पड़ोस में दो पिज्जा की दुकानें खुलती हैं , तो वे बेहतर और सस्ती पिज्जा बनाने के लिए प्रतिस्पर्धा करती हैं। बिना किसी नियमन के , बाजार स्वयं दक्षता के लिए प्रेरित करता है।

स्मिथ ने श्रम विभाजन पर भी प्रकाश डाला , जहाँ विभिन्न लोग विशिष्ट कार्यों को संभालते हैं , जिससे गति और उत्पादकता में सुधार होता है। यह सिद्धांत औद्योगिक क्रांति को प्रेरित करता है , जिससे सामूहिक उत्पादन संभव हुआ।

हालांकि , प्रणाली का एक अंधेरा पक्ष था। प्रारंभिक औद्योगिक श्रमिकों को शोषण , लंबे घंटों और असुरक्षित परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कार्ल मार्क्स ने इस पर "डास कैपिटल " में प्रकाश डाला , यह दिखाते हुए कि विशेषज्ञता और दक्षता मानव गरिमा की कीमत पर आई : श्रमिक परायन हो गए , बिना गर्व या उद्देश्य के दोहराए जाने वाले कार्य करते हुए , मशीन में बदलने योग्य गियर में घटित हो गए। स्मिथ ने उत्पादकता का जश्न मनाया ; मार्क्स ने चेतावनी दी कि यह पूंजीपतियों को श्रम का शोषण करने के लिए सशक्त बनाता है। उन्होंने विपरीत दृष्टिकोणों से एक ही प्रणाली का अवलोकन किया।

पूंजीवाद हमेशा स्मिथ की प्रतिस्पर्धा के आदर्श

का पालन नहीं करता। 1901 में , तीन प्रमुख स्टील कंपनियों ने मिलकर यू .एस. स्टील , पहला अरब डॉलर का निगम। प्रतिस्पर्धा करने के बजाय , उन्होंने कीमतें तय करने के लिए साजिश की , जिससे एक एकाधिकार बना। एकाधिकार ऐसे होते हैं जैसे रात में केवल एक टैक्सी के साथ फंस जाना : चालक कोई भी किराया तय करता है , और आपके पास भुगतान करने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। इसी तरह , श्रमिक उत्पाद बनाते हैं , लेकिन अधिशेष मूल्य —अतिरिक्त लाभ —मालिकों और शेयरधारकों के पास जाता है , न कि उन लोगों के पास जो काम कर रहे हैं।

परिणाम बढ़ती असमानता है। अमेरिका और अन्य पूंजीवादी देशों में, धन कुछ ही हाथों में संकेंद्रित होता है, जबकि सामान्य श्रमिकों को जीवन स्तर में न्यूनतम सुधार देखने को मिलता है।

सभी व्यवसायों को इस शोषणकारी मॉडल का पालन करना आवश्यक नहीं है। सहकारी एक विकल्प प्रदान करते हैं। अमूल का उदाहरण लें, जिसकी स्थापना 1946 में त्रिभुवंदास पटेल के तहत, सरदार वल्लभभाई पटेल के मार्गदर्शन में की गई थी। दूर के निवेशकों के बजाय, किसान सामूहिक रूप से अमूल के मालिक हैं, और लाभ उन्हें वापस किया जाता है। यह दर्शाता है कि यदि स्वामित्व साझा किया जाए तो पूंजीवाद को फिर से आकार दिया जा सकता है, एक ऐसा मॉडल प्रदान करते हुए जहां श्रमिकों को पूंजी के साथ लाभ होता है।

एक साधारण कागज़ का नोट, एक धातु का सिक्का, या आजकल केवल मोबाइल स्क्रीन पर एक संख्या कैसे दुनिया में कुछ भी खरीदने की शक्ति प्राप्त करता है? पैसे का विचार छवियों और भावनाओं को जगाता है — सिक्के, बैंकनोट, डिजिटल बैलेंस, धन, गरीबी, इच्छा, शक्ति, और असहायता। लेकिन क्या हमने कभी यह पूछने के लिए रुकने का प्रयास किया है: वास्तव में पैसा क्या है? यह कैसे अस्तित्व में आया, और यह मानव जीवन पर इतना पूरी तरह से क्यों हावी है?

पैसा शाश्वत नहीं है। बहुत समय पहले, मनुष्यों ने सीधे बार्टर के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं को पूरा किया। यदि मेरे पास अतिरिक्त गेहूं था लेकिन मुझे आलू चाहिए थे, और किसी और के पास अतिरिक्त आलू था लेकिन उसे गेहूं की आवश्यकता थी, तो हम बस आदान-प्रदान कर सकते थे। लेकिन इस प्रणाली में एक महत्वपूर्ण सीमा थी: इच्छाओं का दोहरा सं Coïncidence। आपको केवल यह नहीं देखना था कि कोई

ऐसा व्यक्ति है जो आपके पास जो है उसे चाहता है, बल्कि उस व्यक्ति को भी ठीक वही चाहिए था जो आपको चाहिए था। यदि मैं जूते चाहता था लेकिन मोची सब्जियों को पसंद करता था, तो व्यापार विफल हो गया। बार्टर धीमा, अप्रभावी, और सीमित था।

जैसे-जैसे समाज विकसित हुए, उत्पादन बढ़ा, और मानव आवश्यकताएँ अधिक जटिल हो गईं। बार्टर अब पर्याप्त नहीं था। लोग एक सार्वभौमिक विनिमय माध्यम की तलाश करने लगे, कुछ ऐसा जो सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए स्वीकार्य हो।

पैसे के प्रारंभिक रूप भिन्न थे —शेल, अनाज, नमक, और मवेशी —लेकिन प्रत्येक में दोष थे: नाशवानता, परिवहन में कठिनाई, और असंगत गुणवत्ता।

समय के साथ, समाजों ने सोने और चांदी जैसे धातुओं की ओर रुख किया। ये टिकाऊ, समान, विभाज्य, और मूल्य में अत्यधिक संकेंद्रित थे, जिससे ये व्यापार के लिए आदर्श बन गए। सोना और चांदी सार्वभौमिक समकक्ष बन गए: अब, यदि मेरे पास चावल था और मुझे जूते चाहिए थे, तो मैं अपने चावल को पैसे में बेच सकता था और किसी भी मोची से जूते खरीद सकता था, उसके व्यक्तिगत आवश्यकताओं से स्वतंत्र। पैसा व्यापार को बदल देता है, जिससे हर वस्तु अपनी मूल्य को संख्यात्मक रूप में व्यक्त कर सकती है: एक शर्ट "₹100" हो सकती है, एक किताब "₹200।" यह मूल्य का माप, परिसंचरण का माध्यम, मूल्य का भंडार, और भुगतान का साधन बन गया।

लेकिन पैसा केवल एक उपकरण नहीं है; यह एक प्रकार का फेटिशिज्म भी ले जाता है। हम इसे इस तरह से मानते हैं जैसे इसमें जादुई शक्ति हो: पर्याप्त पैसे के साथ, कोई खुशी, सम्मान, या प्यार खरीद सकता है। हम भूल जाते हैं कि पैसा एक सामाजिक निर्माण है, मानव श्रम और संबंधों का उत्पाद। सोना और चांदी स्वाभाविक रूप से मूल्यवान नहीं हैं, बल्कि इसलिए कि समाज ने उन्हें उस भूमिका को सौंपने पर सहमति व्यक्त की। समाज की सहमति बदलें, और पैसा कुछ भी हो सकता है —एक डिजिटल टोकन, एक संसाधन, या यहां तक कि एक क्रिप्टोक्यूरेंसी।

हालांकि, पूंजीवादी समाज में, यह सत्य अस्पष्ट हो जाता है। पैसे को एक स्वतंत्र, नियंत्रित शक्ति के रूप में देखा जाता है, जो मानवता से ऊपर है। सफलता को संचय द्वारा मापा जाता है, न कि रचनात्मकता, योगदान, या संबंधों द्वारा। हम इसके

पीछा में समुदाय, कल्याण, और यहां तक कि नैतिकता का बलिदान करते हैं। पैसा हमारे जीवन पर हावी है, शादियों और शिक्षा से लेकर स्वास्थ्य देखभाल, सामाजिक स्थिति, और मित्रता तक।

बिटकॉइन या एथेरियम जैसी क्रिप्टोक्यूरेंसी पैसे को एक सामाजिक समझौते के रूप में दर्शाती हैं: उनका मूल्य भौतिक नहीं है बल्कि वैश्विक स्तर पर लाखों द्वारा सहमति की गई है। फिर भी वे अटकलों और कुछ वॉलेट में धन के संकेंद्रण को बढ़ावा देते हैं।

डिजिटल बैंकिंग और मोबाइल वॉलेट पैसे को तात्कालिक बनाते हैं, जिससे यह एहसास होता है कि धन निवेश, शेयर ट्रेडिंग, या रॉबिनहूड और ज़ेरोधा जैसे ऐप्स के माध्यम से अंतहीन रूप से बढ़ सकता है। एक छात्र के पास ₹1,000 एक ऐप में हो सकते हैं, जिससे वह कागज पर लाखों के शेयर "स्वामित्व" कर सकता है, जो पूंजीवाद के धन गुणन के भ्रम को दर्शाता है।

लक्ज़री और तकनीकी बाजार पैसे के फेटिशिज़ेशन को दर्शाते हैं: नवीनतम टेस्ला, आईफोन, या डिज़ाइनर ब्रांड का मालिक होना पहचान, स्थिति, और सफलता का प्रतीक माना जाता है, भले ही अरबों की बुनियादी जरूरतें पूरी न हुई हों।

गिग अर्थव्यवस्था के श्रमिक और फ्रीलांसर अक्सर उबर, अमेज़न, या फाइवर जैसे प्लेटफार्मों के लिए मूल्य उत्पन्न करने के लिए लंबे घंटे काम करते हैं, फिर भी वे जो डिजिटल पैसे कमाते हैं, वह प्लेटफार्म के मालिकों और निवेशकों के लिए उत्पन्न धन का केवल एक अंश है।

अंततः, असली मूल्य सिक्कों, नोटों, या स्क्रीन पर संख्याओं में नहीं है, बल्कि मानव श्रम, रचनात्मकता, और संबंधों में है। पैसा समाज की सामूहिक संपत्ति पर एक दावा है। लेकिन पूंजीवाद के तहत, यह जरूरतों को पूरा करने के लिए एक उपकरण बनना बंद कर देता है और अपने आप में एक अंत बन जाता है — अविराम संचय, असमानता, और धन के लिए धन की खोज को बढ़ावा देता है।

पूंजीवाद के भीतर सबसे कम चर्चा की गई, फिर भी सबसे गहन प्रकार की हिंसा समय की हिंसा है। यह हिंसा न तो दृश्य है और न ही कानून में अपराधीकरण किया गया है; फिर भी, यह आधुनिक समाज में मानव स्वतंत्रता के सबसे बड़े उल्लंघनों में से एक के

रूप में कार्य करती है। पूंजीवाद केवल श्रम का शोषण नहीं करता ; यह मानव जीवन के समय को अधीन करता है। यह केवल काम नहीं निकालता , बल्कि वर्तमान , भविष्य , और अंततः जीवन के अनुभव को भी निकालता है।

समय मानव beings के लिए सबसे सीमित संसाधन है। धन को जमा किया जा सकता है , संपत्ति को अधिग्रहित किया जा सकता है , और ज्ञान को विस्तारित किया जा सकता है —लेकिन खोया हुआ समय कभी वापस नहीं आता। फिर भी पूंजीवाद के भीतर , समय को व्यक्तिगत जीवन के तत्व के रूप में नहीं बल्कि आर्थिक उत्पादन के संसाधन के रूप में माना जाता है।

एक मानव जीवनकाल को इस आधार पर विभाजित किया जाता है कि इसका कितना हिस्सा बाजार को समर्पित किया जा सकता है।

इस प्रणाली में, समय को अपने आप में मूल्य के रूप में नहीं समझा जाता, बल्कि एक इनपुट के रूप में। "काम के घंटे," "उत्पादक समय," और "काम के दिन" जैसे अभिव्यक्तियाँ यह संकेत देती हैं कि समय एक जीता हुआ अनुभव बनना बंद कर चुका है और एक आर्थिक इकाई बन गया है। एक व्यक्ति का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं किया जाता कि वे क्या सोचते हैं, महसूस करते हैं, या दूसरों के लिए क्या अर्थ रखते हैं, बल्कि इस आधार पर कि वे कितने घंटे काम कर सकते हैं और उन घंटों से कितना उत्पादन निकाला जा सकता है।

यह प्रक्रिया औद्योगिक क्रांति के साथ तीव्र हुई। कारखानों ने समय को मापा, विनियमित किया, और अनुशासित किया। घड़ी ने केवल जीवन को चिह्नित करना बंद कर दिया; यह निर्धारित करने लगी कि कब काम करना है, कब रुकना है, और कब फिर से काम पर लौटना है। धीरे-धीरे, यह समय की अनुशासन कार्यालयों, कॉर्पोरेट संस्थानों, और अंततः डिजिटल प्लेटफार्मों में फैल गया।

आज, समय अब आधिकारिक कार्य घंटों तक सीमित नहीं है। ईमेल, मैसेजिंग एप्लिकेशन, सूचनाएँ, और निरंतर ऑनलाइन उपलब्धता की अपेक्षाएँ काम और निजी जीवन के बीच की सीमा को मिटा चुकी हैं। व्यक्ति कार्यस्थल के बाहर भी काम के अधीन रहता है। यह समय का स्थायी अधिग्रहण है।

पूंजीवादी समाज जीवन को दो क्षेत्रों में विभाजित करता है:

1. उत्पादक समय (काम)
2. गैर-उत्पादक समय (विश्राम, संबंध, विचार, चिंतन)

पहला अनिवार्य है ; दूसरा वैकल्पिक। पहले के बिना , दूसरा असंभव है। विश्राम अब एक अधिकार नहीं बल्कि काम के बाद का अवशिष्ट बचा हुआ है। जीवन का केंद्रीय उद्देश्य "जीने" से "रोजगार में बने रहने" की ओर स्थानांतरित हो जाता है।

आदर्श संतुलन —काम के आठ घंटे, नींद के आठ घंटे, और "विश्राम" के आठ घंटे —प्रमुख रूप से कागज पर ही मौजूद है। वास्तव में, अधिकांश लोग

अपने दिन का सबसे अच्छा हिस्सा काम में लगाते हैं।
थकान, यात्रा , मनोवैज्ञानिक तनाव , और वित्तीय चिंता जो भी 所谓 का मुक्त समय बचता है , उसे निगल जाती है। इसलिए पूंजीवाद यह भ्रांति पैदा करता है कि व्यक्ति अपने जीवन को नियंत्रित करते हैं जबकि उनके अधिकांश समय को पहले से ही पूर्वनिर्धारित किया गया है।

पूंजीवाद इस समय की चोरी को आवश्यकता के माध्यम से वैध बनाता है। लोग मुख्य रूप से स्वतंत्र विकल्प से नहीं बल्कि जीवित रहने के लिए काम करते हैं। भोजन, आवास, स्वास्थ्य देखभाल , और शिक्षा बाजार के अधीन हैं ; इसलिए व्यक्तियों को अपना समय बेचना पड़ता है। यहाँ शोषण स्पष्ट नहीं है बल्कि संरचनात्मक है। कोई भी उन्हें हथियारों से धमकी नहीं दे सकता , फिर भी व्यवहार्य विकल्पों की अनुपस्थिति मजबूरी के रूप में कार्य करती है। बेरोजगारी को एक संरचनात्मक परिणाम के रूप में नहीं बल्कि एक व्यक्तिगत नैतिक विफलता के रूप में पुनः परिभाषित किया जाता है।

इस प्रकार , पूंजीवाद समय को स्वतंत्र विकल्प के क्षेत्र से जीवित रहने की कीमत में बदल देता है।

इस समय की चोरी का सबसे बड़ा शिकार रचनात्मकता और आलोचनात्मक विचार है। सोचने , पढ़ने , सवाल करने , और कल्पना करने के लिए समय की आवश्यकता होती है —और यही पूंजीवाद सबसे पहले हटा देता है। एक व्यक्ति जो दिन का अधिकांश भाग थका हुआ , चिंतित , और दबाव में बिताता है , उसके पास प्रणाली पर सवाल उठाने के लिए न तो ऊर्जा होती है और न ही धैर्य। एक थकी हुई समाज बिना स्पष्ट दमन के आज्ञाकारी बन जाती है। जब थकान काम करती है , तो खुला दबाव कम आवश्यक होता है।

ज्ञान स्वयं “कौशल” में परिवर्तित हो जाता है।

शिक्षा समझ को विकसित करने से रोजगार योग्य बनाने में स्थानांतरित हो जाती है। एक सोचने वाला व्यक्ति खतरनाक हो सकता है ; एक कुशल श्रमिक नहीं।

पूंजीवाद की समय संरचना मानसिक स्वास्थ्य के लिए गंभीर निहितार्थ रखती है। उत्पादक बने रहने की निरंतर मांग आत्म -सम्मान को काम के मूल्य के साथ जोड़ देती है। यदि कोई काम नहीं कर रहा है , तो उसे बेकार महसूस कराया जाता है। हसल संस्कृति , बर्नआउट , चिंता , और अवसाद केवल व्यक्तिगत स्थितियाँ नहीं हैं ; वे एक प्रणाली के लक्षण हैं।

जो मनुष्यों को मशीनों के रूप में मानता है —मशीनें जो थकने की अनुमति दी जाती हैं लेकिन महसूस करने की नहीं।

डिजिटल युग में, समय की चोरी और भी अधिक सूक्ष्म हो गई है। न केवल कार्य घंटे बल्कि मानव ध्यान भी वस्तुवादीकरण किया गया है। सोशल मीडिया प्लेटफार्म अब केवल समय की तलाश नहीं करते; वे निरंतर उपस्थिति की तलाश करते हैं। समय केवल श्रम के रूप में नहीं निकाला जाता बल्कि डेटा और व्यवहार पैटर्न के रूप में भी। व्यक्ति मानते हैं कि वे मनोरंजन का उपभोग कर रहे हैं, जबकि वास्तव में उनका समय और ध्यान ही उपभोग और बेचा जा रहा है।

इस प्रकार पूंजीवाद समय के नियंत्रण का एक द्वैतीय रूप उत्पन्न करता है: उत्पादन का समय और उपभोग का समय —दोनों प्रणाली के अधीन हैं।

यह समय की चोरी समान नहीं है। धनी लोग भुगतान सेवाओं और देखभाल श्रम के माध्यम से समय खरीद सकते हैं; गरीबों को अपना समय बेचना पड़ता है। यह वर्ग विभाजन का सबसे मौलिक रूप है। जो लोग समय रखते हैं वे सोच सकते हैं, लिख सकते हैं, संगठित कर सकते हैं, और राजनीतिक रूप से भाग ले सकते हैं; जो लोग समय की कमी का सामना करते हैं वे केवल जीवित रहने के लिए संघर्ष करते हैं। जब नागरिकों के पास इसमें सार्थक रूप से संलग्न होने के लिए आवश्यक समय नहीं होता, तो लोकतंत्र स्वयं खोखला हो जाता है।

पूंजीवाद के लिए सबसे खतरनाक प्रश्न यह नहीं है कि "क्या यह नैतिक है?" बल्कि "क्या यह आवश्यक है?" यदि लोगों के पास पर्याप्त समय होता —सोचने, जुड़ने, और संगठित करने के लिए —तो वे प्रणाली की कथित अनिवार्यता पर सवाल उठाते। वास्तविक समय की मुक्ति —कम काम, सुरक्षित जीवन, सामूहिक सुरक्षा —

सीधे पूंजीवाद की तर्कशक्ति को चुनौती देती है।
यही कारण है कि, तकनीकी प्रगति के बावजूद, कार्य घंटे महत्वपूर्ण रूप से कम नहीं हुए हैं; केवल निगरानी बढ़ी है।

पूंजीवाद का सबसे गहरा अपराध केवल यह नहीं है कि यह असमानता उत्पन्न करता है, बल्कि यह चुपचाप जीवन की चोरी करता है—धीरे, कानूनी रूप से, और अक्सर मुस्कान के साथ।

समय की चोरी के लिए न तो जेल की आवश्यकता होती है, न ही हथकड़ियाँ, न ही कोई स्पष्ट हिंसा, फिर भी इसके परिणाम स्थायी होते हैं: ऐसे समाज जहाँ लोग जीवित हैं, फिर भी जीने के लिए समय की कमी है। जब तक समय को बाजार से मुक्त नहीं किया जाता, कोई आर्थिक सुधार वास्तविक मुक्ति नहीं ला सकता। स्वतंत्रता की पहली शर्त धन नहीं बल्कि समय है।

आधुनिक युग में, मानसिक स्वास्थ्य संकट को आमतौर पर व्यक्तिगत कमजोरी, रासायनिक असंतुलन, या खराब जीवन प्रबंधन के मुद्दे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तनाव, अवसाद, चिंता, और बर्नआउट को व्यक्तिगत विफलताओं के रूप में व्याख्यायित किया जाता है—जैसे कि व्यक्ति पर्याप्त सकारात्मक, अनुशासित, या मेहनती नहीं था। यह व्याख्या न केवल अधूरी है बल्कि खतरनाक भी है, क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक पीड़ा के संरचनात्मक कारणों को अदृश्य बना देती है।

वास्तव में, समकालीन मानसिक स्वास्थ्य संकट व्यक्तिगत दोषों का परिणाम नहीं है, बल्कि एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम है जो मानव beings को मुख्य रूप से उत्पादन के इकाइयों और उपभोग के एजेंटों के रूप में परिभाषित करती है। पूंजीवाद ने मनोवैज्ञानिक तनाव को सामान्य बना दिया है; यह अब एक अपवाद नहीं बल्कि प्रचलित स्थिति है।

पूंजीवाद मानसिक स्वास्थ्य को बाजार की तर्कशक्ति के अधीन करता है। चिंता, अवसाद, और थकान को "बीमारियों" के रूप में पहचानना स्वयं में समस्या नहीं है; समस्या तब शुरू होती है जब उनके कारणों को सामाजिक संरचनाओं से काट दिया जाता है और केवल व्यक्ति के भीतर स्थित किया जाता है। समाधान

दवाओं , प्रेरक रेटोरिक , और माइंडफुलनेस अनुप्रयोगों में खोजे जाते हैं , जबकि तनाव उत्पन्न करने वाली स्थितियाँ अपरिवर्तित रहती हैं। इस प्रकार , पूंजीवाद मनोवैज्ञानिक पीड़ा को एक निजी समस्या में बदल देता है , यह सुनिश्चित करते हुए कि प्रणाली स्वयं की जांच से बच जाए।

यह प्रक्रिया एक दोहरा लाभ उत्पन्न करती है : (1) प्रणाली आलोचना से बचती है , और (2) मानसिक स्वास्थ्य एक लाभकारी उद्योग बन जाता है।

पूंजीवादी समाज में, आत्म-सम्मान उत्पादकता से जुड़ा होता है। प्रश्न "आप क्या करते हैं?" धीरे-धीरे "आप कौन हैं?" के पर्यायवाची बन जाता है। यदि कोई रोजगार में है, तो वह उपयोगी है; यदि नहीं, तो वह असफल है। यह आत्म-छवि को स्थायी रूप से अस्थिर कर देता है। व्यक्ति एक निरंतर आत्म-न्याय की स्थिति में रहते हैं—नियोक्ताओं, समाज और अंततः अपने सामने। विश्राम, सुस्ती और स्थिरता को आलस्य या कमजोरी के रूप में फिर से व्याख्यायित किया जाता है। ऐसे वातावरण में, मानसिक शांति एक स्वाभाविक स्थिति नहीं बल्कि एक दुर्लभ उपलब्धि है।

हसल संस्कृति केवल अधिक काम करने की संस्कृति नहीं है; यह एक नैतिक ढांचा है। थकान को महिमामंडित किया जाता है, और विश्राम को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। इस नैतिकता के भीतर:

1. कम सोना एक सम्मान का प्रतीक बन जाता है
2. निरंतर व्यस्तता को सफलता के रूप में पढ़ा जाता है
3. थकावट को व्यक्तिगत अक्षमता के रूप में देखा जाता है

यह नैतिक दबाव व्यक्तियों को उनके अपने शरीर और मन के संकेतों के खिलाफ काम करने के लिए मजबूर करता है। इसलिए बर्नआउट एक दुर्घटना नहीं है; यह एक प्रणालीगत परिणाम है।

पूंजीवाद स्थिरता में नहीं बल्कि प्रतिस्पर्धा और अनिश्चितता में निहित है। नौकरी की सुरक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा, और भविष्य के बारे में गारंटी कम हो रही हैं। गिग अर्थव्यवस्था, अनुबंध कार्य, और फ्रीलांसिंग को "स्वतंत्रता" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि वास्तव में ये स्थायी असुरक्षा पैदा करते हैं। यह असुरक्षा केवल आर्थिक नहीं है; यह मनोवैज्ञानिक है। व्यक्ति लगातार अगले महीने, अगले प्रोजेक्ट, अगले अवसर के बारे में चिंतित रहते

हैं। निरंतर अनिश्चितता मानसिक ऊर्जा को नष्ट करती है और लोगों को वर्तमान में जीने से रोकती है।

पूंजीवाद तुलना पर फलता -फूलता है। सोशल मीडिया , विज्ञापन , और उपभोक्ता संस्कृति लगातार व्यक्तियों को याद दिलाते हैं कि कोई और अधिक कमा रहा है , बेहतर दिख रहा है , तेजी से हासिल कर रहा है , और एक श्रेष्ठ जीवन जी रहा है। ये तुलना स्वाभाविक नहीं हैं ; इन्हें डिज़ाइन किया गया है। एल्गोरिदम असुरक्षाओं का पता लगाते हैं और उन्हें गहरा करते हैं।

परिणाम आत्म -संदेह , ईर्ष्या , और हीनता है। इस निरंतर मूल्यांकन की दृष्टि के तहत मानसिक स्वास्थ्य कमजोर होता है।

कॉर्पोरेट संस्कृति भावनाओं को बाधाओं के रूप में देखती है। उदासी , भय, भ्रम , या असुरक्षा को "अव्यवसायिक " के रूप में लेबल किया जाता है। व्यक्तियों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी संघर्षों को छुपाएं और निरंतर क्षमता और सकारात्मकता का प्रदर्शन करें। यह भावनात्मक श्रम मानसिक स्वास्थ्य पर भारी पड़ता है : लोग केवल काम नहीं करते —वे निरंतर प्रदर्शन करते हैं। श्रम और छिपाने का दोहरा बोझ मनोवैज्ञानिक थकावट को बढ़ाता है।

डिजिटल युग ने संकट को और जटिल बना दिया है। व्यक्ति न केवल काम से थक गए हैं , बल्कि जानकारी के अत्यधिक प्रवाह से भी। सूचनाएं , ईमेल , संदेश और अपडेट ध्यान को टुकड़ों में बांट देते हैं। यह निरंतर ध्यान में विघटन एकाग्रता को कमजोर करता है ; लोग गहरे विचार या निरंतर भावना की क्षमता खो देते हैं। यह डिजिटल बर्नआउट के रूप में प्रकट होता है।

मानसिक स्वास्थ्य संकट सभी को समान रूप से प्रभावित नहीं करता। आर्थिक सुरक्षा वाले लोग चिकित्सा , उपचार और विश्राम खरीद सकते हैं ; जिनके पास संसाधन नहीं हैं , उनके पास न तो समय है और न ही पहुंच। गरीबों से अपेक्षा की जाती है कि वे मानसिक पीड़ा के बावजूद काम करते रहें। इस प्रकार , मानसिक स्वास्थ्य एक वर्ग विशेषाधिकार बन जाता है।

प्रमुख पूंजीवादी दृष्टिकोण मानसिक स्वास्थ्य को व्यक्तिगत उपचार के मुद्दे के रूप में देखता है , न कि सामाजिक परिवर्तन के रूप में। दवाएं और चिकित्सा लक्षणों को संबोधित कर सकती हैं , लेकिन वे

उस प्रणाली को नहीं बदल सकतीं जो लगातार मानसिक तनाव उत्पन्न करती है। यह एक विषाक्त वातावरण में मास्क बांटने के समान है जबकि विष को हटाने से इनकार किया जाता है।

आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य संकट कोई रहस्यमय महामारी नहीं है। यह एक ऐसी प्रणाली का पूर्वानुमानित परिणाम है जो मानव beings से लगातार अधिक मांग करती है जबकि उन्हें सुरक्षा , समय और गरिमा से वंचित करती है।

शिक्षा को आमतौर पर मानव प्रगति की नींव , सामाजिक परिवर्तन का एक वाहन , और बौद्धिक स्वतंत्रता का स्रोत माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से , इसका उद्देश्य मानव beings को सोचने , प्रश्न पूछने , समझने और सार्वजनिक जीवन में जिम्मेदार भागीदारों के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाना था। हालाँकि , आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर , शिक्षा धीरे -धीरे इस मूल उद्देश्य से भटक गई है और इसे एक बाजार वस्तु में बदल दिया गया है। यह अब मुख्य रूप से ज्ञान के विस्तार का माध्यम नहीं है ; यह एक निवेश , एक प्रमाणपत्र -उत्पादन उद्योग , और रोजगार का एक मार्ग बन गया है।

पूंजीवाद ने शिक्षा को एक सार्वजनिक और मानव अधिकार के रूप में नहीं , बल्कि एक निजी आर्थिक संपत्ति के रूप में पुनर्परिभाषित किया है। इस पुनर्परिभाषा ने शिक्षा की संरचना , सामग्री , उद्देश्यों और नैतिकता को गहराई से आकार दिया है। पूंजीवादी तर्क में , शिक्षा का मूल्य इसके “उपयोगिता ” द्वारा निर्धारित होता है। यह उपयोगिता समझ या ज्ञान का अर्थ नहीं रखती ; इसका अर्थ है कौशल —कौशल जो उद्योगों , निगमों और कॉर्पोरेट अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार तैयार किए गए हैं। शिक्षा का उद्देश्य समझ विकसित करने से employability बढ़ाने की ओर स्थानांतरित हो जाता है।

इसके परिणामस्वरूप , शिक्षा को विचार के व्यापक विकास से एक संकीर्ण प्रशिक्षण तंत्र में बदल दिया जाता है। छात्र मुख्य रूप से यह नहीं सीखते कि समाज कैसे कार्य करता है ; वे यह सीखते हैं कि इसमें “फिट” कैसे होना है। शिक्षा को एक जीती -जागती अनुभव के रूप में नहीं देखा जाता , बल्कि भविष्य की आय में

निवेश के रूप में देखा जाता है। छात्र और परिवार शिक्षा के प्रति एक ही प्रश्न के साथ बढ़ते हैं : यह कितनी सैलरी लाएगा ? इस प्रकार , सीखने का मूल्य बौद्धिक या नैतिक दृष्टिकोण से नहीं , बल्कि वित्तीय लाभ के रूप में मापा जाता है। अनुशासन के विकल्प बाजार मूल्य को दर्शाते हैं न कि जिज्ञासा या जुनून को। असफलता को बौद्धिक अन्वेषण के रूप में नहीं , बल्कि निवेश पर हानि के रूप में देखा जाता है। सीखना चिंता और प्रतिस्पर्धा से भर जाता है। छात्र जिज्ञासु मन नहीं रह जाता और एक जोखिम प्रबंधक बन जाता है।

पूंजीवाद में शिक्षा का निजीकरण इस विश्वास पर आधारित है कि बाजार गुणवत्ता में सुधार करते हैं। व्यवहार में, निजीकरण शिक्षा को बेहतर नहीं बनाता — यह इसे अधिक असमान बनाता है। निजी संस्थान उच्च शुल्क लेते हैं, शिक्षा को एक ब्रांड के रूप में पैकेज करते हैं, और पहुंच को योग्यता से कम, भुगतान करने की क्षमता से अधिक जोड़ते हैं। परिणामस्वरूप, गुणवत्ता शिक्षा एक विशेषाधिकार वर्ग के हाथों में संकेंद्रित हो जाती है। गरीबों और हाशिए पर रहने वालों के लिए, शिक्षा एक अवसर से संघर्ष में बदल जाती है। एक प्रणाली जो असमानता को कम कर सकती थी, इसके बजाय इसे पुन: उत्पन्न करने लगती है।

पूंजीवादी शिक्षा प्रणाली में परीक्षाएं सीखने के उपकरण नहीं रह जातीं और फ़िल्टर बन जाती हैं। इन फ़िल्टरों को पास करने के लिए, एक विशाल कोचिंग उद्योग उभरता है—जो डर, तीव्र प्रतिस्पर्धा, और सफलता की अत्यंत संकीर्ण परिभाषा पर आधारित है। असफलता को व्यक्तिगत और नैतिक रूप से देखा जाता है। कोचिंग संस्कृति शिक्षा को रैंक और स्कोर में घटित कर देती है; छात्र पैटर्न को याद करते हैं न कि समझ विकसित करते हैं। अनुकूलन की क्षमता सोचने की क्षमता को बदल देती है।

जब शिक्षा को सफलता की एकमात्र सीढ़ी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो शैक्षणिक असफलता अस्तित्वगत बन जाती है। छात्र इस विश्वास को आंतरिक बनाना शुरू कर देते हैं कि परीक्षाओं या करियर में असफलता जीवन में असफलता है। यह मनोवैज्ञानिक बोझ चिंता, अवसाद, और चरम मामलों में आत्महत्या का उत्पादन करता है। सीखना डर से अलग नहीं होता। यह कोई व्यक्तिगत कमजोरी नहीं है, बल्कि एक ऐसी प्रणाली का प्रत्यक्ष परिणाम है जो जीवन के

मूल्य को आर्थिक उपलब्धियों से बांधती है।

पूंजीवादी शिक्षा आलोचनात्मक सोच के साथ असहज है। एक प्रश्न पूछने वाला छात्र एक उत्पादक कर्मचारी नहीं है, बल्कि प्रणाली का एक संभावित आलोचक है। इसलिए पाठ्यक्रमों को स्वच्छ और राजनीतिक रूप से निष्क्रिय किया जाता है; विवादास्पद सामाजिक, राजनीतिक, और आर्थिक प्रश्नों से बचा जाता है। आदर्श छात्र आज्ञाकारी, अनुकूलनीय, और "बाजार-तैयार" होता है। प्रणाली अपने आलोचकों को विकसित नहीं करती; यह समरूपता का निर्माण करती है।

जैसे-जैसे शिक्षा तक पहुंच बढ़ती है, डिग्रियों का मूल्य समानांतर रूप से घटता है। स्नातक डिग्रियाँ सामान्य हो जाती हैं, फिर मास्टर डिग्रियाँ आती हैं, और विशेष प्रमाणपत्रों की बाढ़ आ जाती है। यह "प्रमाणपत्र मुद्रास्फीति" व्यक्तियों को एक अंतहीन शैक्षणिक दौड़ में फंसा देती है, समय और संसाधनों का उपभोग करते हुए कागजी योग्यताओं को बढ़ाती है, ज्ञान को नहीं। यह रोजगार संकट का समाधान नहीं करती; यह इसे छिपाती है।

अंततः, पूंजीवादी शिक्षा श्रम बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को पुनः आकार देती है। विश्वविद्यालय उद्योगों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करते हैं, न कि समाज के लिए। शिक्षा बाजार पर निर्भर हो जाती है, न कि स्वायत्त। यह नहीं पूछती कि समाज को न्याय, लोकतंत्र या मानव विकास के लिए क्या चाहिए; यह पूछती है कि उद्योग को लाभ के लिए क्या चाहिए।

स्वास्थ्य को सामान्यतः एक मौलिक मानव अधिकार के रूप में माना जाता है—एक ऐसी स्थिति जो व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से संतुलित जीवन जीने की अनुमति देती है। फिर भी, एक पूंजीवादी प्रणाली के भीतर, स्वास्थ्य धीरे-धीरे एक मानव स्थिति के रूप में अस्तित्व खो देता है और इसके बजाय एक आर्थिक क्षेत्र में बदल जाता है। इस ढांचे में, स्वास्थ्य अब कल्याण या संपूर्णता का प्रतीक नहीं है; यह उपचार, औषधियों, बीमा और स्वास्थ्य सेवा सेवाओं के निरंतर विस्तार का प्रतिनिधित्व करने लगता है।

पूंजीवाद मुख्य रूप से स्वास्थ्य में सुधार करने के लिए नहीं है, बल्कि बीमारी का प्रबंधन करने और इसे लाभ में बदलने के लिए है। यह भेद सूक्ष्म

लेकिन निर्णायक है। स्वास्थ्य का उद्देश्य मानव कल्याण है, जबकि बाजार का उद्देश्य लाभ अधिकतमकरण है। यह विरोधाभास आधुनिक स्वास्थ्य देखभाल संकट के केंद्र में है।

पूंजीवादी तर्क के भीतर, स्वास्थ्य को नकारात्मक रूप से परिभाषित किया गया है—यह एक सकारात्मक कल्याण की स्थिति के रूप में नहीं, बल्कि केवल बीमारी की अनुपस्थिति के रूप में है। इसके परिणाम पूर्वानुमानित हैं। रोकथाम, जीवनशैली, सामाजिक निर्धारक, और पर्यावरणीय कारणों को हाशिए पर रखा जाता है, जबकि उपचार केंद्रीय बन जाता है। बीमारी अब

सिस्टम ; यह एक अवसर बन जाता है : अधिक रोग अधिक मरीजों की ओर ले जाता है, अधिक मरीज अधिक उपचार की ओर ले जाते हैं, अधिक उपचार अधिक लाभ की ओर ले जाते हैं। एक ऐसा सिस्टम उभरता है जिसमें पूर्ण स्वास्थ्य आर्थिक रूप से अवांछनीय हो जाता है।

आधुनिक स्वास्थ्य देखभाल एक व्यापक नेटवर्क में विकसित हो गई है जिसमें अस्पताल, फार्मास्यूटिकल कंपनियाँ, नैदानिक प्रयोगशालाएँ, चिकित्सा उपकरण निर्माता और बीमा कंपनियाँ शामिल हैं। उनका साझा उद्देश्य लोगों को स्वस्थ रखना नहीं है, बल्कि स्वास्थ्य से राजस्व निकालना है।

इस प्रणाली के भीतर, उपचार एक वस्तु बन जाता है, रोगी एक ग्राहक बन जाता है, और डॉक्टर एक स्वतंत्र हीलर के बजाय प्रबंधकीय और कॉर्पोरेट संरचना का हिस्सा बन जाता है। स्वास्थ्य निर्णय धीरे-धीरे नैतिक या वैज्ञानिक तर्क से आर्थिक गणना की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

निजीकरण का दावा है कि प्रतिस्पर्धा गुणवत्ता में सुधार करती है। वास्तव में, यह देखभाल को बढ़ाने के बजाय असमानता को गहरा करती है। निजी स्वास्थ्य देखभाल प्रणालियों में, गुणवत्ता उपचार भुगतान करने की क्षमता से जुड़ जाता है, स्वास्थ्य देखभाल गरीबों के लिए एक लक्जरी बन जाती है, और जीवन और मृत्यु के बीच का अंतर increasingly बैंक बैलेंस द्वारा निर्धारित होता है। स्वास्थ्य—एक ऐसा क्षेत्र जो असमानता को कम करना चाहिए—अंततः वर्ग विभाजन को मजबूत करता है।

स्वास्थ्य बीमा को सुरक्षा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, फिर भी पूंजीवाद के तहत बीमा क्षेत्र जोखिम को साझा नहीं करता; यह उसे छानता है। बीमा कंपनियाँ बीमारी से पहले लाभप्रदता का मूल्यांकन

करती हैं , उपचार को शर्तों और अपवादों में उलझा देती हैं , और मानव पीड़ा को कागजी कार्रवाई , देरी , और प्रक्रियात्मक बाधाओं में बदल देती हैं। व्यक्ति सुरक्षित महसूस करता है , लेकिन वास्तव में वह केवल अनिश्चितता का प्रबंधन कर रहा है।

फार्मास्यूटिकल उद्योग आधुनिक पूंजीवाद की सबसे शक्तिशाली शाखाओं में से एक का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी अनुसंधान प्राथमिकताएँ शायद ही कभी रोगों को पूरी तरह से समाप्त करने का लक्ष्य रखती हैं। इसके बजाय , लंबे समय तक लगातार सेवन किए जाने वाले दवाओं पर जोर दिया जाता है।

समय। इसके परिणामस्वरूप, जीवनशैली से संबंधित बीमारियाँ स्थायी बाजार बन जाती हैं, लक्षणों का इलाज किया जाता है जबकि कारणों की अनदेखी की जाती है, मरीज जीवनभर के उपभोक्ता बन जाते हैं, और इलाज की जगह निर्भरता ले लेती है।

स्वास्थ्य सेवा का सबसे प्रभावी और सस्ता रूप रोकथाम है: स्वच्छ वातावरण, पौष्टिक भोजन, सुरक्षित कार्य स्थितियाँ, और मानसिक कल्याण। फिर भी, ये उपाय बहुत कम लाभ उत्पन्न करते हैं। पूंजीवादी तर्क के भीतर, एक स्वस्थ समाज पर्याप्त उपभोग नहीं करता, जबकि एक अस्वस्थ समाज एक निरंतर बाजार बन जाता है। इसलिए, निवारक नीतियों की अनदेखी की जाती है, जबकि महँगी उपचारों को बढ़ावा दिया जाता है और उनकी प्रशंसा की जाती है।

पूंजीवादी स्वास्थ्य देखभाल डॉक्टरों को नैतिक दुविधा में डालती है। हालांकि वे मरीज की सेवा करने की शपथ लेते हैं, वे उन संस्थानों के भीतर काम करते हैं जहाँ राजस्व लक्ष्यों का अस्तित्व होता है, बिस्तर-व्यस्तता दरों की निगरानी की जाती है, और परीक्षण और प्रक्रियाएँ आय धाराओं से जुड़ी होती हैं। डॉक्टर-रोगी संबंध मानवता की देखभाल से लेन-देन की बातचीत की ओर बदल जाता है।

इस ढांचे के भीतर, स्वास्थ्य का मूल्य मानव जीवन में नहीं, बल्कि श्रम क्षमता में है। लोग केवल तब तक स्वस्थ रहते हैं जब तक वे उत्पादक बने रहते हैं। एक बार जब उन्हें "अयोग्य" माना जाता है - वृद्ध, विकलांग, या अंततः बीमार - तो उन्हें प्रणाली पर बोझ के रूप में देखा जाता है। मानव गरिमा पीछे हट जाती है, और जीवन को उत्पादकता के संदर्भ में मापा जाता है।

महामारियाँ पूंजीवादी स्वास्थ्य देखभाल के

विरोधाभासों को क्रूर स्पष्टता के साथ उजागर करती हैं। संकट यह दर्शाते हैं कि निजीकरण सामूहिक सुरक्षा की गारंटी नहीं दे सकता, बाजार आपातकालीन परिस्थितियों में नैतिक निर्णय नहीं ले सकते, और स्वास्थ्य एक सार्वजनिक आवश्यकता है न कि एक निजी वस्तु। फिर भी, जब संकट समाप्त होता है, तो प्रणाली अपने पूर्व के पैटर्न पर लौट आती है।

जब स्वास्थ्य एक बाजार बन जाता है, तो बीमारी को नैतिकता के रूप में देखा जाता है। मरीजों को अपने आप को दोष देने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है — जीवनशैली के विकल्पों, अनुशासन, या व्यक्तिगत विफलता के लिए —जबकि सामाजिक और संरचनात्मक

रोग के कारण अदृश्य रहते हैं। पीड़ा व्यक्तिगत हो जाती है , और एकजुटता समाप्त हो जाती है।

पूंजीवाद के तहत, स्वास्थ्य देखभाल एक स्वास्थ्य प्रबंधन उद्योग में बदल गई है। इसका हित बीमारी को कम करने में नहीं , बल्कि इसे नियंत्रित करने और मुद्रीकरण करने में है। जब तक स्वास्थ्य को लाभ की तर्कशक्ति से मुक्त नहीं किया जाता , चिकित्सा मानव सेवा के बजाय वाणिज्य के रूप में कार्य करती रहेगी। जहाँ जीवन लाभ के अधीन है , स्वास्थ्य कभी भी वास्तव में सार्वभौमिक नहीं बन सकता।

मानव गरिमा का अर्थ है कि किसी व्यक्ति का मूल्य केवल उनके अस्तित्व से उत्पन्न होता है —उनकी उपयोगिता , उत्पादकता , या आर्थिक क्षमता से नहीं। गरिमा यह पुष्टि करती है कि हर व्यक्ति को सम्मान का हक है , चाहे वे कितना भी कमाते हों , कितना भी काम करते हों , या बाजार के लिए कितने उपयोगी हों। हालाँकि , पूंजीवाद इस सिद्धांत के विपरीत खड़ा है।

पूंजीवाद मानव beings को केवल मानव होने के नाते नहीं पहचानता ; यह उन्हें उत्पादन और उपभोग के माध्यम से पहचानता है। ऐसे प्रणाली में , गरिमा एक अंतर्निहित गुण नहीं रह जाती है और यह एक शर्तीय स्थिति बन जाती है —जो केवल तब तक दी जाती है जब तक एक व्यक्ति बाजार के लिए उपयोगी बना रहता है।

पूंजीवादी तर्क मानव को एक सामाजिक और नैतिक विषय से एक आर्थिक इकाई में बदल देता है। भाषा स्वयं इस परिवर्तन को उजागर करती है : श्रमिक , उपभोक्ता , ग्राहक , मानव संसाधन। व्यक्ति को अब एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखा जाता , बल्कि एक कार्य के रूप में देखा जाता है।

इस ढांचे के भीतर , शरीर श्रम के लिए एक मशीन बन

जाता है , मन कौशल उत्पादन का एक केंद्र , और समय बिक्री के लिए एक वस्तु। जब किसी व्यक्ति को एक संसाधन के रूप में देखा जाता है , तो गरिमा अनिवार्य रूप से द्वितीयक हो जाती है।

पूंजीवाद द्वारा प्रचारित सबसे खतरनाक भ्रांति यह है कि किसी व्यक्ति का मूल्य उनकी उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है। जो लोग अधिक उत्पादन करते हैं , उन्हें अधिक मूल्यवान माना जाता है। इसके परिणाम तात्कालिक और गंभीर होते हैं : बेरोजगार लोग

“बेकार ” के रूप में लेबल किए जाने पर , बुजुर्गों को बोझ के रूप में देखा जाता है , और विकलांग व्यक्तियों को सहानुभूति के वस्तुओं में घटित कर दिया जाता है , बजाय इसके कि उन्हें समान अधिकारों के धारक के रूप में पहचाना जाए। गरिमा शर्तों पर निर्भर हो जाती है।

पूंजीवादी संस्कृति में , गरीबी को केवल एक आर्थिक स्थिति के रूप में नहीं देखा जाता , बल्कि इसे नैतिक रूप से भी देखा जाता है। गरीबों को आलसी , असमर्थ या अयोग्य के रूप में चित्रित किया जाता है। इस तरह , प्रणाली अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती है और संरचनात्मक असमानता को व्यक्तिगत विफलता में बदल देती है। यह नैतिककरण सामाजिक सहानुभूति को कमजोर करता है , संरचनात्मक शोषण को छिपाता है , और गरिमा को शर्म से बदल देता है।

आधुनिक समाज में , पहचान काम से गहराई से जुड़ गई है। "आप क्या करते हैं ?" सामाजिक बातचीत का प्राथमिक प्रश्न बन गया है। धीरे -धीरे , काम व्यक्ति को ढक लेता है। ऐसे एक दुनिया में , बेरोजगार अदृश्य हो जाते हैं , विश्राम और निष्क्रियता अपराध की तरह महसूस होने लगते हैं , और रोजगार के परे जीवन की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। गरिमा एक ही आयाम में सिमट जाती है : आर्थिक कार्य।

पूंजीवाद भी गरिमा को उपभोग से जोड़ता है। बेहतर कपड़े , बड़े घर और महंगी शिक्षा सम्मान के प्रतीक बन जाते हैं। गरिमा आंतरिक मूल्य से बाहरी प्रदर्शन की ओर स्थानांतरित हो जाती है। जो उपभोग नहीं कर सकते , उन्हें मान्यता और सम्मान से वंचित कर दिया जाता है।

यह प्रणाली सभी प्रकार के श्रम को अदृश्य बना देती है जो लाभ उत्पन्न नहीं करते —घरेलू काम ,

देखभाल करना , भावनात्मक श्रम। ये कार्य समाज को बनाए रखते हैं , फिर भी बाजार में इनका मूल्य बहुत कम या बिल्कुल नहीं होता। इनका अवमूल्यन असमान रूप से महिलाओं की गरिमा को कमजोर करता है और देखभाल को "प्राकृतिक कर्तव्य" के रूप में छिपाकर शोषण को सामान्य बनाता है।

पूंजीवाद के तहत , मानव अधिकार अक्सर बाजार के अधिकारों के अधीन होते हैं। संपत्ति , लाभ, और संविदात्मक स्वतंत्रता को जीवन , स्वास्थ्य , और सम्मान से ऊपर रखा जाता है। परिणामस्वरूप , जीवन लाभ के अधीन हो जाता है , न्याय भुगतान की क्षमता से बंधा होता है , और गरिमा आर्थिक बन जाती है , न कि कानूनी या नैतिक।

जहाँ असमानता है, वहाँ गरिमा समान नहीं रह सकती। पूंजीवाद धन और शक्ति को कुछ हाथों में संकेंद्रित करता है, जिससे संसाधनों को नियंत्रित करने वाले यह निर्धारित करते हैं कि "सम्मानजनक" क्या है। श्रमिकों से अपेक्षा की जाती है कि वे आभारी रहें, सहायता को अधिकार के बजाय दान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, और असहमति को कृतघ्नता के रूप में लेबल किया जाता है।

जब लोगों को बार-बार बताया जाता है कि उनकी मूल्यता उनके उत्पादन पर निर्भर करती है, तो उनकी अस्तित्व असुरक्षित हो जाती है। आत्म-सम्मान बाहरी स्वीकृति पर निर्भर हो जाता है, अस्तित्व संबंधी चिंता बढ़ जाती है, और जीवन आत्म-मूल्यांकन की एक निरंतर प्रक्रिया में बदल जाता है। फिर भी गरिमा कुछ ऐसा नहीं है जिसे कमाया जाए; यह जन्मजात होती है।

आधुनिक पूंजीवाद अपने आप को तटस्थ, वैश्विक और अवसर-निर्माण करने वाला प्रस्तुत करता है। यह दावा करता है कि मुक्त बाजार और वैश्वीकरण सभी को समान अवसर प्रदान करते हैं। यह कथा वास्तविकता को छुपाती है। दुनिया समान इकाइयों में नहीं, बल्कि गहरे असमान शक्ति, संसाधनों और श्रम के क्षेत्रों में विभाजित है।

एक ओर तथाकथित वैश्विक उत्तर है, जहाँ पूंजी, प्रौद्योगिकी और निर्णय-निर्माण केंद्रित हैं। दूसरी ओर वैश्विक दक्षिण है, जो सस्ती श्रम, कच्चे माल और पर्यावरणीय बलिदान प्रदान करता है। यह विभाजन आकस्मिक नहीं है; यह पूंजीवाद की एक संरचनात्मक आवश्यकता है।

औद्योगिक शक्तियों की संपत्ति उपनिवेशीय शोषण पर निर्भर करती है। हालांकि उपनिवेशीय शासन

औपचारिक रूप से समाप्त हो गया है , इसकी आर्थिक संरचना बनी हुई है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ , वित्तीय संस्थाएँ , और व्यापार व्यवस्थाएँ नव - उपनिवेशीय नियंत्रण के उपकरण के रूप में कार्य करती हैं।

पूंजीवाद न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ की खोज करता है। वैश्विक दक्षिण इस तर्क को निम्न वेतन , कमजोर श्रम अधिकारों , कमजोर संघों , और ढीले पर्यावरणीय नियमों के माध्यम से पूरा करता है। उत्पादन दक्षिण में होता है , जबकि लाभ उत्तर में जमा होते हैं। पसीने की दुकानें पूंजीवाद का सबसे स्पष्ट रूप हैं —लंबे घंटे , असुरक्षित परिस्थितियाँ , और न्यूनतम वेतन —जबकि

पूर्ण उत्पाद सस्ते में उपभोक्ताओं को बेचे जाते हैं जो स्वास्थ्य , जीवन, और गरिमा की कीमत का सामना rarely करते हैं।

प्राकृतिक संसाधनों का निष्कर्षण उसी पैटर्न का पालन करता है। खनिज , तेल , लकड़ी , भूमि , और पानी वैश्विक बाजारों के लिए निकाले जाते हैं , जिससे पारिस्थितिकीय विनाश , स्वदेशी समुदायों का विस्थापन , और दीर्घकालिक पर्यावरणीय संकट उत्पन्न होते हैं। लाभ बाहर की ओर बहते हैं ; नुकसान स्थानीय रहता है।

अंतरराष्ट्रीय ऋण और अधिक अधीनता को गहरा करता है। ऋण निजीकरण , कल्याण कटौती , और सार्वजनिक खर्च में कमी जैसी शर्तों से बंधे होते हैं। संप्रभुता कमजोर होती है , और नीति निर्णय बाहरी नियंत्रण में रखे जाते हैं —दृश्य साम्राज्य के बिना आर्थिक प्रभुत्व।

कुशल श्रमिकों —डॉक्टरों , इंजीनियरों , वैज्ञानिकों —का प्रवास वैश्विक दक्षिण से सार्वजनिक निवेश के माध्यम से विकसित प्रतिभा को निकालता है। स्थानीय प्रणालियाँ कमजोर होती हैं जबकि पहले से शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाएँ मजबूत होती हैं।

वैश्विक संकट इन असमानताओं को बढ़ाते हैं। जो जलवायु परिवर्तन के लिए सबसे कम जिम्मेदार हैं , वे इसके सबसे बुरे परिणामों का सामना करते हैं। जो आर्थिक मंदी से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं , उनके पास पुनर्प्राप्ति के लिए सबसे कम उपकरण होते हैं।

पूंजीवाद अब केवल श्रम और संसाधनों का शोषण नहीं करता ; यह अब मानव चेतना में भी प्रवेश करता है। औद्योगिक पूंजीवाद ने श्रम का शोषण किया , उपभोक्ता पूंजीवाद ने इच्छा का शोषण किया , और निगरानी

पूंजीवाद स्वयं व्यवहार का शोषण करता है।

इसका प्राथमिक संसाधन डेटा है —जो दैनिक जीवन से चुपचाप निकाला जाता है। हर क्लिक, खोज, ठहराव, और आंदोलन कच्चे माल में बदल जाता है। डेटा केवल जानकारी नहीं है; यह व्यवहार का एक मानचित्र है। उद्देश्य अब केवल भविष्यवाणी नहीं है, बल्कि नियंत्रण है।

निगरानी को सुविधा और सुरक्षा के माध्यम से सामान्यीकृत किया गया है। गोपनीयता को अप्रचलित के रूप में प्रस्तुत किया गया है, और "छिपाने के लिए कुछ नहीं होना" को गुण के रूप में माना जाता है। ध्यान को इकट्ठा किया जाता है क्योंकि एल्गोरिदम

गुस्से , डर , और उत्तेजना को विचार और गहराई पर प्राथमिकता देते हैं। स्वतंत्रता को विकल्पों के माध्यम से अनुकरण किया जाता है , जबकि विकल्प स्वयं इंजीनियर किए जाते हैं।

गोपनीयता केवल एक व्यक्तिगत अधिकार नहीं है ; यह स्वतंत्र विचार के लिए एक पूर्वापेक्षा है। निरंतर अवलोकन आत्म -निषेध उत्पन्न करता है , असहमति को दबाता है , और लोकतांत्रिक रूपों को बरकरार रखता है लेकिन खोखला।

निगरानी पूंजीवाद में , उपयोगकर्ता ग्राहक नहीं है ; उपयोगकर्ता उत्पाद है। डेटा बिना उचित मुआवजे के निकाला जाता है , सहमति अस्पष्ट रहती है , और शक्ति कुछ कंपनियों में संकेंद्रित होती है। प्रतिरोध कठिन है क्योंकि प्रणाली अदृश्य , सुविधाजनक , और दैनिक जीवन में निहित है। जहां लाभ मूल्य को परिभाषित करता है , मानव गरिमा हमेशा जोखिम में होती है।

पूंजीवाद अपने आप को संसाधन आवंटन के एक कुशल प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करता है। यह दावा करता है कि बाजार मांग और आपूर्ति को संतुलित करते हैं ताकि संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग सुनिश्चित हो सके। वास्तव में , पूंजीवाद कमी पर निर्भर करता है — और इस कमी का अधिकांश हिस्सा कृत्रिम रूप से उत्पन्न होता है।

कमी के बिना कोई मूल्य नहीं है ; मूल्य के बिना कोई लाभ नहीं है। इसलिए , पूंजीवाद को वंचना के निरंतर अस्तित्व की आवश्यकता होती है —चाहे वह भोजन, आवास, स्वास्थ्य देखभाल , शिक्षा , समय, या सुरक्षा की कमी हो। परिणाम एक ऐसा विश्व है जहां प्रचुरता भूख , बेघरी , और अस्थिरता के साथ सह -अस्तित्व में है।

प्राकृतिक कमी वास्तविक भौतिक सीमाओं से उत्पन्न होती है। कृत्रिम कमी सामाजिक और आर्थिक संस्थानों के माध्यम से बनाई जाती है। आज , पर्याप्त भोजन का उत्पादन किया जाता है , पर्याप्त आवास बनाने की क्षमता मौजूद है , और प्रौद्योगिकी और ज्ञान व्यापक रूप से उपलब्ध हैं। फिर भी लाखों लोग बाहर रह जाते हैं। यह विरोधाभास संरचनात्मक है , प्राकृतिक नहीं।

पूंजीवादी कृषि में , भोजन लाभ के लिए उत्पादित किया जाता है , पोषण के लिए नहीं। अनाज को मूल्य गिरावट को रोकने के लिए नष्ट किया जाता है , किसान अधिशेष के बीच नुकसान उठाते हैं , और भूख को प्रणालीगत विफलता के बजाय खरीदने की शक्ति की कमी के रूप में पुनः फ्रेम किया जाता है।

शहरों में, लाखों लोग बेघर हैं जबकि लाखों घर खाली खड़े हैं। यह आवास संकट नहीं है बल्कि स्वामित्व और अटकलों का संकट है। घर निवेश के उपकरण, मूल्यवान संपत्तियाँ, और लाभ के भंडार बन जाते हैं, न कि रहने के स्थान।

दवाएँ और उपचार पेटेंट और एकाधिकार के माध्यम से कृत्रिम रूप से महंगे रखे जाते हैं। जीवन-रक्षक उपचार मौजूद हैं लेकिन वे अप्राप्य बने रहते हैं। बीमारी लाभदायक हो जाती है, और स्वास्थ्य एक अधिकार के बजाय लेन-देन का विषय बन जाता है।

शिक्षा, जो कि नगण्य लागत पर डिजिटल रूप से साझा की जा सकती है, डिग्री, प्रमाणपत्र और चयनात्मक पहुंच के माध्यम से दुर्लभ रखी जाती है। यह प्रतिभा की कमी नहीं है, बल्कि अवसर की कमी है।

बेरोजगारी इस कारण से बनी रहती है कि काम की कमी नहीं है, बल्कि रोजगार को प्रतिस्पर्धा बनाए रखने, वेतन को दबाने और श्रम को अनुशासित करने के लिए व्यवस्थित किया गया है। कृत्रिम बेरोजगारी पूंजीवाद के लिए आवश्यक है।

दुर्लभता एक राजनीतिक उपकरण भी है। जब लोग मानते हैं कि संसाधन सीमित हैं, तो वे प्रतिस्पर्धा करते हैं, दूसरों को खतरे के रूप में देखते हैं, और प्रणाली पर सवाल उठाना बंद कर देते हैं। सामाजिक एकता टूट जाती है, और नियंत्रण आसान हो जाता है।

पूंजीवाद अंतहीन वस्तुओं के माध्यम से प्रचुरता प्रदर्शित करता है, लेकिन वास्तविक सुरक्षा—स्वास्थ्य, आवास, समय, गरिमा—दुर्लभ बनी रहती है। आवश्यकताएँ वस्तुवादी बन जाती हैं, वस्तुओं को कृत्रिम रूप से सीमित किया जाता है, और दुर्लभता लाभदायक बन जाती है।

पूंजीवाद समान अवसर प्रदान करने का दावा करता

है , परिणामों को प्रतिभा और प्रयास के लिए जिम्मेदार ठहराता है। यह रेटोरिक इसके मूल तर्क को छुपाता है। असमानता पूंजीवाद का एक दुर्घटना नहीं है ; यह इसकी संरचनात्मक आवश्यकता है।

लाभ के लिए सस्ती श्रम , संकेंद्रित संसाधन और आर्थिक असुरक्षा की आवश्यकता होती है। यदि लोगों के पास वास्तविक सुरक्षा और स्वतंत्रता होती , तो शोषणकारी स्थितियों को अस्वीकार कर दिया जाता। इसलिए पूंजीवाद को जीवित रहने के लिए असमानता की आवश्यकता होती है।

श्रम बाजार केवल तब काम करते हैं जब श्रमिकों की संख्या नौकरियों से अधिक होती है। बेरोजगारी पूंजीवाद की विफलता नहीं है बल्कि इसकी सफलता की एक स्थिति है। धन शक्ति बन जाता है , नीति , बाजार और विचारधारा को आकार देता है। संचय को पुरस्कृत किया जाता है ; पुनर्वितरण का विरोध किया जाता है।

अवसर विरासत में मिलते हैं , समान रूप से वितरित नहीं होते। कुछ बहुत आगे से शुरू करते हैं ; अन्य कभी प्रारंभिक रेखा तक नहीं पहुँचते। फिर भी परिणामों को योग्यता के रूप में नैतिकता दी जाती है।

उपभोक्ता संस्कृति असमानता पर निर्भर करती है। स्थिति की तुलना , दुर्लभता और निरंतर उन्नयन की आवश्यकता होती है। आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति में बदल जाती है , लोकतंत्र को खोखला करती है।

प्रौद्योगिकी असमानता को समाप्त करने के बजाय पुनर्गठित करती है। यदि सभी के पास सुरक्षा , फ्री टाइम और काम न करने का विकल्प होता , तो पूंजीवादी अनुशासन ढह जाता। असमानता पूंजीवाद का परिणाम नहीं है —यह इसकी विधि है।

पूंजीवाद अमानवीकरण नहीं करता क्योंकि यह खुलकर क्रूर है , बल्कि इसलिए कि यह उदासीन है। यह लाभ को पहचानता है , दर्द को नहीं ; विकास को , जीवन को नहीं। कोई भी प्रणाली जो मानव beings—समय, गरिमा , संबंधों और पर्यावरण के साथ —को अपने केंद्र में नहीं रखती , वह उन्नत लग सकती है , लेकिन अंततः मानवता के खिलाफ खड़ी होती है। पूंजीवाद का संकट केवल आर्थिक नहीं है। यह अस्तित्वगत है।

उपभोक्तावाद

उपभोक्तावाद को अक्सर एक सतही घटना के रूप में देखा जाता है —सिर्फ "अधिक खरीदने" या "लक्जरी जीवनशैली" के समान। लेकिन यह समझ इसकी असली प्रकृति को गहराई से कम आंकती है। उपभोक्तावाद एक व्यक्तिगत आदत या व्यक्तिगत कमजोरी नहीं है; यह एक प्रणालीगत विचारधारा है जो आधुनिक पूंजीवाद के साथ जैविक रूप से विकसित हुई और धीरे-धीरे यह निर्धारित करती है कि मनुष्य कैसे सोचते हैं, महसूस करते हैं और जीते हैं। यदि पूंजीवाद उत्पादन और लाभ का आर्थिक ढांचा है, तो उपभोक्तावाद इसकी सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक विस्तार है। यह केवल बाजारों का विस्तार नहीं करता; यह मनुष्यों को एक ऐसी भूमिका में रखता है जहां उनकी प्राथमिक पहचान नागरिकों, श्रमिकों, या सामाजिक प्राणियों के रूप में नहीं, बल्कि उपभोक्ताओं के रूप में परिभाषित होती है।

उपभोक्तावाद एक इच्छा-आधारित नियंत्रण का रूप है। यह व्यक्तियों को कार्य करने के लिए मजबूर नहीं करता; बल्कि, यह उन्हें ठीक वही चाहने के लिए तैयार करता है जो प्रणाली चाहती है। इस प्रक्रिया में, आज्ञाकारिता आनंद के साथ मिल जाती है, जिससे उपभोक्तावाद और भी अधिक कपटी बन जाता है। जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं को स्वतंत्रता के रूप में देखने लगते हैं, तो वे यह पहचानने में असफल होते हैं कि वे इच्छाएँ कहाँ से उत्पन्न होती हैं। स्वतंत्रता का यह भ्रांति उपभोक्तावाद का सबसे शक्तिशाली हथियार है।

उपभोक्तावाद केवल आर्थिक व्यवहार को प्रभावित नहीं करता, बल्कि संस्कृति, नैतिकता, पहचान, और

सामाजिक संबंधों को भी प्रभावित करता है। सफलता , खुशी , आत्म -सम्मान , और यहां तक कि प्रेम और देखभाल जैसे अवधारणाएँ बाजार की भाषा में अनुवादित हो गई हैं। हम अब यह नहीं पूछते , “मैं कौन हूँ ?” बल्कि , “मैं क्या खरीद सकता हूँ ?” मानव मूल्य अब अंतर्निहित नहीं है ; इसे खरीदने की शक्ति और उपभोग की क्षमता से मापा जाता है। यह परिवर्तन केवल व्यक्तियों को नहीं , बल्कि समाज को समग्र रूप से प्रभावित करता है , एक मनोवैज्ञानिक रूप से कमजोर समुदाय का निर्माण करता है

जो निरंतर तुलना , प्रतिस्पर्धा , और असंतोष में फंसा रहता है।

उपभोक्तावाद का उदय कोई संयोग नहीं है। जैसे-जैसे पूंजीवाद ने सामूहिक उत्पादन और अधिशेष उत्पन्न किया , एक संरचनात्मक चुनौती उभरी : यह सभी उत्पादन को कौन खरीदेगा ? समाधान आर्थिक से अधिक मनोवैज्ञानिक था। मनुष्यों को स्थायी इच्छा-यंत्रों में बदलने की आवश्यकता थी , केवल खरीदारों में नहीं। विज्ञापन , ब्रांडिंग , मीडिया , और बाद में डिजिटल प्लेटफार्मों ने एक ऐसी संस्कृति बनाई जहां संतोष अस्थायी और लालसा स्थायी हो गई। उपभोक्तावाद को समझना , मूल रूप से , पूंजीवाद की जीवित रहने की रणनीति को समझना है।

आधुनिक प्रभुत्व की प्रणालियाँ अक्सर अदृश्य रूप से कार्य करती हैं। जबकि धर्म विश्वास के माध्यम से नियंत्रण करता है और राष्ट्रवाद पहचान के माध्यम से , उपभोक्तावाद आनंद और आराम के माध्यम से आज्ञाकारिता को लागू करता है। लोग अपनी थकान , चिंता , और खालीपन को व्यक्तिगत विफलता के रूप में व्याख्यायित करते हैं न कि प्रणालीगत परिणामों के रूप में। वे अधिक काम करते हैं और अधिक उपभोग करते हैं , यह उम्मीद करते हुए कि अगला उत्पाद , उन्नयन , या जीवनशैली संतोष लाएगा। उपभोक्तावाद एक आत्म-प्रवर्धन चक्र बनाता है जिसमें यहां तक कि दुख भी एक बाजार अवसर बन जाता है।

शोषण को अक्सर कारखानों , श्रम , या वेतन के संदर्भ में सोचा जाता है , लेकिन उपभोक्तावाद इसे मन के स्तर पर स्थानांतरित करता है। यहाँ , शोषण का अर्थ केवल अधिशेष मूल्य का निष्कर्षण नहीं है , बल्कि ध्यान , समय, इच्छा , और पहचान का निष्कर्षण है। यहां तक कि मानसिक स्थान भी बाजार के लिए एक

युद्धक्षेत्र बन जाता है।

उपभोक्तावाद को समझने के लिए यह पहचानना महत्वपूर्ण है कि यह एक कालातीत मानव प्रवृत्ति नहीं है। मनुष्य हमेशा चीजों का उपयोग करते रहे हैं , लेकिन उन्हें खरीदना और वस्तुओं के माध्यम से पहचान बनाना एक अपेक्षाकृत आधुनिक घटना है। पूर्व-पूंजीवादी समाजों में मुख्यतः आवश्यकता-आधारित आर्थिक गतिविधि थी। उत्पादन सीमित था , प्रौद्योगिकी सीमित थी , और संसाधन कमी के तहत कार्य करते थे।

जीवित रहने , स्थिरता , और सामाजिक निरंतरता पर केंद्रित उपभोग। कपड़े , उपकरण, भोजन, और आश्रय कार्यात्मक थे , जिनका प्रतीकात्मक या पहचान आधारित अर्थ न्यूनतम था। सामाजिक स्थिति जन्म , समुदाय , या भूमिका पर अधिक निर्भर करती थी , न कि संपत्ति पर।

औद्योगिक क्रांति ने इस संतुलन को निर्णायक रूप से बाधित कर दिया। यांत्रिक उत्पादन और कारखाना प्रणालियों ने सामूहिक उत्पादन को सक्षम बनाया , जिससे अभूतपूर्व बाजार अधिशेष उत्पन्न हुए। पूंजीवाद को एक नई संरचनात्मक चुनौती का सामना करना पड़ा : उत्पादन क्षमता के तेजी से बढ़ने के साथ मांग को कैसे सुनिश्चित किया जाए। उपभोग धीरे -धीरे आवश्यकता से इच्छा की ओर स्थानांतरित हो गया। उत्पादों को न केवल उपयोगिता के लिए बल्कि भिन्नता के लिए भी विपणन किया गया। पैकेजिंग , ब्रांडिंग , और प्रारंभिक विज्ञापन ने समान उत्पादों को अधिक बेचने के लिए भिन्न दिखाने लगना शुरू कर दिया।

बीसवीं सदी ने उपभोक्तावाद के लिए एक निर्णायक मोड़ का संकेत दिया। विज्ञापन एक वैज्ञानिक उद्योग बन गया , न कि आकस्मिक व्यावसायिक प्रथा। मनोविज्ञान , व्यवहार अध्ययन , और बाद में मनोविश्लेषण का उपयोग यह समझने के लिए किया गया कि मनुष्य केवल तर्कसंगत खरीदार नहीं हैं , बल्कि भावनात्मक , असुरक्षित , और सामाजिक रूप से प्रभावित प्राणी हैं। विश्व युद्धों के बाद , विशेष रूप से पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं में , उपभोक्तावाद को आर्थिक स्थिरता और सामाजिक नियंत्रण के एक उपकरण के रूप में जानबूझकर बढ़ावा दिया गया। सामूहिक उपभोग को देशभक्ति , प्रगति , और आधुनिक जीवन के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया। उपभोक्ता अब केवल खरीदार नहीं थे , बल्कि आर्थिक विकास के इंजन

बन गए।

युद्ध के बाद का पूंजीवाद उपभोक्तावाद को एक सांस्कृतिक विचारधारा में बदल दिया। टेलीविजन, सिनेमा, और बाद में प्रिंट मीडिया ने एक आकांक्षात्मक संस्कृति का निर्माण किया जो खुशी, सफलता, और सम्मान को उत्पादों से जोड़ती है। उपभोग ने प्रतीकात्मक अर्थ प्राप्त किया। कपड़े, कारें, गैजेट्स, और जीवनशैली के विकल्प सामाजिक पहचान के संकेतक बन गए। लोग अब यह नहीं पूछते थे, "क्या यह उपयोगी है?" बल्कि, "यह क्या करता है

क्या यह मेरे बारे में कहता है?” उपभोक्तावाद एक पहचान बनाने वाले तंत्र के रूप में ठोस रूप ले लिया।

बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में, उपभोक्तावाद और भी अधिक परिष्कृत हो गया। वैश्वीकरण और डिजिटल प्रौद्योगिकी ने बाजारों को सीमाहीन बना दिया, और विज्ञापन अत्यधिक व्यक्तिगत हो गए। डेटा विश्लेषण, एल्गोरिदम, और सोशल मीडिया ने उपभोक्ता इच्छाओं की भविष्यवाणी और निर्माण किया, जो पहले कभी नहीं देखी गई सटीकता के साथ। उपभोक्तावाद सामूहिक संस्कृति से व्यक्तिगत स्तर की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में चला गया, जिससे अनुकूलित इच्छाएँ, क्यूरेटेड जीवनशैली, और एल्गोरिदम-प्रेरित आकांक्षाएँ उत्पन्न हुईं। यह एक निरंतर पृष्ठभूमि प्रक्रिया बन गई, जो न केवल खरीदारी के क्षणों के दौरान बल्कि दैनिक स्क्रॉलिंग, देखने, और बातचीत के दौरान भी कार्य करती है।

हर चरण में, उपभोक्तावाद को स्वाभाविक और अनिवार्य के रूप में प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक तकनीकी और सांस्कृतिक परिवर्तन को प्रगति के रूप में ढाला गया, जबकि वास्तव में, ये परिवर्तन पूंजीवाद की संरचनात्मक आवश्यकताओं की सेवा करते थे। उपभोक्तावाद का विस्तार मानव स्वतंत्रता का संकेत नहीं था, बल्कि प्रणाली के अस्तित्व के लिए एक तंत्र था। जैसे-जैसे उत्पादन और बाजार का विस्तार हुआ, मानव इच्छाओं का भी इसी तरह विस्तार और पुनः-इंजीनियरिंग किया गया। उपभोग को एक नैतिक कर्तव्य के रूप में सामान्यीकृत किया गया: खरीदना आर्थिक विकास के लिए आवश्यक था, नए उत्पादों को अपनाना आधुनिकता का प्रमाण था।

उपभोक्तावाद की परिभाषित विशेषता यह नहीं है कि लोग चीजें खरीदते हैं, बल्कि यह है कि वे उन चीजों की इच्छा करना सीखते हैं जिनकी उन्हें वास्तव में कभी आवश्यकता नहीं थी। यह "इच्छा" एक प्राकृतिक या स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है; यह एक व्यवस्थित रूप से इंजीनियर किया गया परिणाम है। आधुनिक पूंजीवाद ने एक बुनियादी ढांचा विकसित किया है जहां इच्छाएं वैज्ञानिक सटीकता के साथ बनाई, उत्तेजित और बनाए रखी जाती हैं। विज्ञापन, ब्रांडिंग, मीडिया, मनोविज्ञान और डिजिटल प्रौद्योगिकी मिलकर उपभोक्ता को निरंतर असंतोष और आकांक्षा की स्थिति में बनाए रखते हैं।

जरूरत एक सीमित अंत बिंदु है, लेकिन इच्छा जानबूझकर अंतहीन बनाई जाती है—क्योंकि एक संतुष्ट उपभोक्ता प्रणाली के लिए बेकार है।

इस निर्माण में पहला कदम असुरक्षा का निर्माण करना है। उपभोक्तावाद स्पष्ट रूप से नहीं कहता "आप अधूरे हैं," लेकिन चित्रण, कथाओं और सामाजिक तुलना के माध्यम से इस भावना को सूक्ष्मता से उत्पन्न करता है। शरीर की छवि, जीवनशैली, करियर की सफलता, रिश्ते, और यहां तक कि खुशी को आदर्श मानकों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस आदर्श से कोई भी विचलन कमी के रूप में फ्रेम किया जाता है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपनी तुलना करते हैं, और जब वे एक अंतर का अनुभव करते हैं, तो बाजार तैयार समाधान—उत्पाद, सेवाएं, या जीवनशैली के विकल्प—प्रस्तुत करता है। यह एक समस्या-समाधान चक्र बनाता है जिसमें समस्या कृत्रिम होती है, और समाधान वस्तुवादी होता है।

दूसरी परत भावनाओं को वस्तुओं में बदल देती है। उत्पाद अब केवल कार्यात्मक नहीं हैं; वे भावनात्मक वादे लेकर आते हैं—आत्मविश्वास, आकर्षण, सम्मान, संबंध, नियंत्रण। ये वादे तर्कसंगत मूल्यांकन को दरकिनार कर देते हैं। व्यवहारिक मनोविज्ञान दिखाता है कि मानव निर्णय लेना मुख्य रूप से भावनात्मक और अवचेतन होता है। विज्ञापन इस कमजोरी का लाभ उठाते हैं। पुनरावृत्ति, संगीत, रंग, सेलिब्रिटी समर्थन, और कहानी कहने के माध्यम से, एक उत्पाद एक भावना के साथ जुड़ जाता है, जिससे उपभोक्ता यह विश्वास करने लगता है कि वे वस्तु नहीं, बल्कि भावना खरीद रहे हैं।

तीसरा तंत्र आदत और लत का निर्माण है। आधुनिक उपभोक्तावाद केवल इच्छा नहीं पैदा करता; यह उस

इच्छा को दोहराने योग्य और मजबूर करता है।
डोपामाइन -आधारित पुरस्कार चक्र, कमी के संकेत, सीमित संस्करण, और निरंतर नवीनता उपभोक्ताओं को एक चक्र में डाल देते हैं जहाँ प्रत्याशा वास्तविक उपभोग से अधिक संतोषजनक होती है। एक बार जब एक इच्छा पूरी हो जाती है, तो प्रणाली तुरंत अगली इच्छा प्रस्तुत करती है। संतोष जानबूझकर अल्पकालिक होता है ताकि लालसा स्थायी बनी रहे। इस प्रकार उपभोक्तावाद एक मनोवैज्ञानिक ट्रेडमिल बन जाता है —आंदोलन अनिवार्य है, रुकना अनुमति नहीं है।

डिजिटल युग ने इस निर्माण को अभूतपूर्व स्तरों तक पहुंचा दिया है। एल्गोरिदम और डेटा विश्लेषण उपभोक्ता व्यवहार, प्राथमिकताओं, और कमजोरियों को ट्रैक करते हैं। इच्छा अब सामूहिक स्तर पर नहीं है बल्कि व्यक्तिगत रूप से अनुकूलित है। सोशल मीडिया प्लेटफार्म अब केवल संचार उपकरण नहीं हैं; वे इच्छा वितरण प्रणाली हैं। प्रभावशाली लोग, क्यूरेटेड जीवनशैली, और एल्गोरिदमिक सिफारिशें उपभोक्ता कल्पना का उपनिवेश कर देती हैं। लोग अपनी इच्छाओं को व्यक्तिगत के रूप में देखते हैं, लेकिन वे डेटा-आधारित भविष्यवाणियों का उत्पाद हैं।

इस निर्माण का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि उपभोक्तावाद समय और ध्यान का उपभोग करता है। इच्छा केवल उत्पादों के लिए नहीं है बल्कि प्रत्याशा, शोध, तुलना, और प्रदर्शन के लिए भी है। उपभोक्ता की संज्ञानात्मक जगह लगातार बाजार द्वारा भरी जाती है, जिससे चिंतन के लिए बहुत कम जगह बचती है। लोग अपनी असंतोष को व्यक्तिगत विफलता के रूप में व्याख्यायित करते हैं न कि प्रणालीगत हेरफेर के रूप में।

इस निर्माण का सबसे परेशान करने वाला निहितार्थ यह है कि यह लोगों को हमेशा अधूरा छोड़ देता है। आत्मा कभी "पर्याप्त" महसूस नहीं करती; यह हमेशा अगली खरीद, अगली उन्नति, अगली पहचान का पीछा करती है। स्वायत्तता और एजेंसी धीरे-धीरे कम होती जाती है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं की जांच करना बंद कर देते हैं और बस उनका पालन करते हैं। उपभोक्तावाद एक अनुशासन का रूप ले लेता है जिसमें आज्ञाकारिता बाहरी प्राधिकरण को नहीं बल्कि अपनी खुद की इच्छाओं को दी जाती है।

उपभोक्तावाद स्वतंत्रता की भाषा में प्रस्तुत होता है। बाजार दावा करते हैं कि उपभोक्ता स्वतंत्र, स्वायत्त, और सशक्त हैं—वे जो चाहें खरीद सकते हैं, किसी भी ब्रांड का चयन कर सकते हैं, और अपनी जीवनशैली को अपनी इच्छानुसार डिजाइन कर सकते हैं। सतह पर, यह विश्वसनीय लगता है: शेल्फ भरे हुए हैं, ऑनलाइन प्लेटफार्म अनंत विकल्प दिखाते हैं, और हर उत्पाद "अलग" और "विशिष्ट" होने का दावा करता है। फिर भी, एक आलोचनात्मक परीक्षा यह प्रकट करती है कि इस स्वतंत्रता का अधिकांश हिस्सा एक इंजीनियर्ड भ्रांति है।

इस भ्रांति की पहली परत पूर्व-निर्मित विकल्प हैं। उपभोक्ता केवल उन विकल्पों में से चुनते हैं जो बाजार ने पूर्व-चयनित किए हैं। वे यह तय नहीं करते कि क्या उत्पादित होगा, यह कैसे उत्पादित होगा, या किन तर्कों के तहत विकल्प उपलब्ध कराए जाते हैं। कॉर्पोरेट शक्ति, लाभ गणनाएँ, और बाजार अनुसंधान पहले से ही इन निर्णयों को तय कर चुके हैं। उपभोक्ता की भूमिका एक क्यूरेटेड मेनू से एक आइटम का चयन करने तक सीमित है—जैसे किसी रेस्तरां में एक डिश चुनना। उपभोक्ता इस वास्तविकता पर शायद ही कभी सवाल उठाते हैं, क्योंकि चयन का अनुभव स्वतंत्रता जैसा लगता है।

दूसरी परत ब्रांड विभेदन का मिथक है। हर उत्पाद को एक विशिष्ट पहचान के साथ प्रस्तुत किया जाता है—प्रीमियम, बजट, नैतिक, कूल, न्यूनतम, विद्रोही, पारंपरिक। उपभोक्ता इन श्रेणियों को अपनी व्यक्तित्व और मूल्यों को दर्शाने के रूप में देखते हैं। गहरे विश्लेषण से पता चलता है कि अधिकांश ब्रांड एक ही संरचनात्मक प्रणाली की सेवा करते हैं। भिन्नताएँ पैकेजिंग, कथा, और विपणन में होती हैं, उद्देश्य या प्रभाव में नहीं। उपभोक्ता महसूस करते हैं कि उनका चयन अभिव्यक्तिपूर्ण है, लेकिन वे केवल प्रणाली के ढांचे के भीतर सौंदर्यात्मक प्राथमिकता का अभ्यास कर रहे हैं। स्वतंत्रता प्रस्तुति में है, सामग्री में नहीं।

तीसरी परत मनोवैज्ञानिक स्थिति है। जब उपभोक्ता अपनी निर्णयों को पूरी तरह से व्यक्तिगत के रूप में देखते हैं, तो चयन की भ्रांति को मजबूत किया जाता है। प्राथमिकताएँ शून्य में उत्पन्न नहीं होतीं—वे लगातार संस्कृति, मीडिया, साथियों, सामाजिक मानदंडों, और एल्गोरिदम द्वारा आकारित होती हैं।

उपभोक्ता अपनी स्वाद को "प्राकृतिक" मानते हैं, हालांकि यह दीर्घकालिक स्थिति का परिणाम है। जब कुछ बार-बार दिखाई देता है, सामाजिक रूप से पुरस्कृत होता है, और आकांक्षात्मक होता है, तो यह एक विकल्प बनना बंद कर देता है और डिफ़ॉल्ट बन जाता है। उपभोक्ता महसूस करते हैं कि वे स्वतंत्रता से चुन रहे हैं, लेकिन उनके विकल्प मानसिक रूप से पूर्व-चयनित होते हैं।

डिजिटल पूंजीवाद ने इस भ्रांति को मजबूत किया है। एल्गोरिदम व्यवहार का अवलोकन करते हैं और व्यक्तिगत विकल्प प्रस्तुत करते हैं। यह व्यक्तिगतकरण स्वतंत्रता जैसा लगता है लेकिन भविष्यवाणी को बढ़ाता है।

उपभोक्ताओं को वह दिखाया जाता है जिसकी वे पहले से ही अपेक्षा करते हैं, प्रयोग और विचलन को सीमित करते हुए। चयन संकुचित होता है जबकि अनुभव व्यक्तिगत लगता है। उपभोक्ता मानते हैं कि वे अद्वितीय हैं, लेकिन वे डेटा पैटर्न के अनुसार व्यवहार कर रहे हैं।

चुनाव का भ्रम भी जिम्मेदारी को स्थानांतरित करता है। जब उपभोक्ताओं को स्वतंत्र निर्णय लेने वालों के रूप में देखा जाता है, तो प्रणाली जवाबदेही से बच जाती है। पर्यावरणीय क्षति को "उपभोक्ता चुनाव" पर दोषी ठहराया जाता है; असमानता को "गलत चुनाव" के रूप में समझाया जाता है। प्रणालीगत बाधाओं को अदृश्य बना दिया जाता है, और नैतिक बोझ व्यक्ति पर डाल दिया जाता है। उपभोक्तावाद स्वतंत्रता का उपयोग guilt और दायित्व को वितरित करने के लिए करता है, जिससे लोग व्यक्तिगत चुनावों को अनुकूलित करने के लिए प्रेरित होते हैं बजाय कि प्रणाली पर सवाल उठाने के।

यह भ्रांति महत्वपूर्ण राजनीतिक निहितार्थ रखती है। जब नागरिकता को उपभोग से बदल दिया जाता है, तो लोकतांत्रिक भागीदारी कमजोर हो जाती है। लोग सामाजिक परिवर्तन के लिए सामूहिक कार्रवाई के बजाय "नैतिक खरीदारी" की ओर मुड़ते हैं। "अपने बटुए के साथ वोट करें" जैसे भाषा इस विचार को मजबूत करती है कि बाजार अंतिम निर्णय लेने की जगह है। लेकिन बटुए के आधार पर मतदान स्वाभाविक रूप से असमान है—जिनके पास अधिक पैसा है, उनके पास अधिक "चुनाव" होता है। इस तरह, चुनाव की भ्रांति लोकतंत्र को सशक्त नहीं करती; यह चुपचाप इसे खोखला कर देती है।

उपभोक्तावाद का सबसे गहरा और खतरनाक परिवर्तन

यह है कि यह केवल चीजें नहीं बेचता —यह मानव पहचान को भी बाजार में लाने योग्य बनाता है। जब उपभोग आवश्यकता से इच्छा की ओर बढ़ता है, और इच्छा से चयन की ओर, तो अगला तार्किक कदम पहचान का वस्तुवादीकरण होता है। इस चरण में, उत्पाद केवल कार्यात्मक या आनंद आधारित उद्देश्यों की सेवा नहीं करते; वे आत्म -छवि, सामाजिक स्थिति, और यहां तक कि अस्तित्वात्मक अर्थ के वाहक बन जाते हैं। व्यक्ति अब यह नहीं पूछते, "मुझे क्या चाहिए?" बल्कि, "मैं कौन हूँ —और अन्य मुझे कैसे देखेंगे?" उपभोक्तावाद इस प्रश्न का बाजार के अनुकूल उत्तर प्रदान करता है।

ऐतिहासिक रूप से , पहचान समुदाय , पेशा , दर्शन या अनुभव के माध्यम से आकार ली जाती थी। लोग अपने संबंधों , क्रियाओं और मूल्यों के माध्यम से अपने आत्म -संवेदन का निर्माण करते थे। आधुनिक उपभोक्ता समाजों में , पहचान increasingly बाहरी प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती है —ब्रांड , जीवनशैली , सौंदर्यशास्त्र , और उपभोग के पैटर्न। यह एक महत्वपूर्ण बदलाव उत्पन्न करता है : पहचान जीने के बजाय प्रदर्शन की जाती है। जो दिखाई देता है उसे वास्तविक माना जाता है। उपभोक्तावाद इस प्रदर्शन को सरल बनाता है : "यह खरीदें , और ऐसा बन जाएं। "

बाजार ने पहचान को प्रबंधनीय लेबल में वर्गीकृत किया है : सफल, न्यूनतम , विद्रोही , जागरूक , लक्जरी -प्रेमी , आध्यात्मिक , बौद्धिक , फिटनेस -केंद्रित। प्रत्येक श्रेणी के साथ संबंधित उत्पाद , ब्रांड और दृश्य कोड होते हैं। उपभोक्ता महसूस करते हैं कि वे व्यक्तित्व व्यक्त कर रहे हैं , लेकिन वास्तव में , वे पूर्व -डिज़ाइन किए गए पहचान पैकेज का चयन कर रहे हैं। यह प्रक्रिया व्यक्तियों को जटिल आत्म -परावर्तन से मुक्त करती है —पहचान निर्माण बाजार को आउटसोर्स किया गया है। व्यक्तित्व एक भ्रांति बन जाती है जो सामूहिक रूप से उत्पादित टेम्पलेट्स के माध्यम से संचालित होती है।

इस वस्तुवादीकरण का एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह है कि आत्म -सम्मान उपभोग से जुड़ जाता है। जब पहचान उत्पादों से जुड़ती है , तो मान्यता बाजार के माध्यम से आती है। सामाजिक स्वीकृति , सम्मान , और संबंध केवल उन लोगों के लिए सुलभ हो जाते हैं जो पहचान के स्पष्ट संकेतों को खरीदने की क्षमता रखते हैं। लोग अपनी मूल्य को अंतर्निहित के रूप में नहीं , बल्कि विनिमेय के रूप में देखने लगते

हैं। बाजार मानकों को पूरा करने में विफलता असंतोष की भावनाओं को जन्म देती है, जिसे व्यक्तिगत विफलता के रूप में आंतरिक किया जाता है, हालांकि यह संरचनात्मक रूप से उत्पन्न होता है।

डिजिटल संस्कृति इस पहचान-के-लिए-बेचने की गतिशीलता को तेज करती है। सोशल मीडिया प्लेटफार्म बाजार बन जाते हैं जहाँ आत्मा को लगातार संकलित, संपादित और प्रदर्शित किया जाता है। लाइक्स, फॉलोअर्स, और सहभागिता मेट्रिक्स पहचान को मापते हैं। लोग केवल उपभोग नहीं करते—वे खुद को प्रस्तुत करते हैं ताकि उन्हें उपभोग किया जा सके। सीमा

उपभोक्ता और उत्पाद के बीच की रेखा धुंधली हो जाती है; आत्मा एक ब्रांड बन जाती है। आत्म-ब्रांडिंग पूंजीवादी तर्क का एक स्वाभाविक विस्तार है, जहाँ सब कुछ—व्यक्तित्व सहित—पैसे में बदलने की क्षमता रखता है।

पहचान के वस्तुवादीकरण का सामाजिक प्रभाव गहरा है। जब पहचान बाजार-प्रेरित होती है, तो सामाजिक संबंध लेन-देन के रूप में बदल जाते हैं। संबंध अब मूल्यों या साझा अनुभवों पर नहीं, बल्कि स्थिति के प्रतीकों और उपभोग के संकेतों पर आधारित होते हैं। जब लोग एक-दूसरे का मूल्यांकन करते हैं, तो परायापन बढ़ता है, बजाय इसके कि वे एक-दूसरे को समझें। तुलना की संस्कृति इस परायापन को बढ़ाती है, क्योंकि हर पहचान सार्वजनिक और मापने योग्य होती है। व्यक्ति लगातार आगे या पीछे महसूस करते हैं, जिससे चिंता और असंतोष सामान्य हो जाते हैं।

दार्शनिक रूप से, बिक्री के लिए पहचान एक अस्तित्वगत संकट उत्पन्न करती है। जब आत्मा बाहरी वस्तुओं द्वारा परिभाषित होती है, तो यह स्वाभाविक रूप से अस्थिर हो जाती है। उत्पाद पुरानी हो जाती हैं, प्रवृत्तियाँ बदलती हैं, और बाजार की अपेक्षाएँ बदलती हैं। उपभोक्ता आत्मा कभी स्थिर नहीं होती, हमेशा अपडेट, अपग्रेड, और रीब्रांड करने के दबाव में होती है। प्रणाली इस अस्थिरता को "स्व-सुधार" के रूप में सही ठहराती है, लेकिन वास्तव में, यह एक स्थायी असुरक्षा की स्थिति उत्पन्न करती है जो उपभोग को बनाए रखती है।

उपभोक्तावाद का सबसे व्यावहारिक और हानिकारक परिणाम तब उभरता है जब इच्छा आर्थिक बाध्यता में बदल जाती है। इस चरण में, उपभोक्तावाद केवल चाहने की नहीं, बल्कि भुगतान करने, काम करने और बंधे रहने

की शिक्षा देता है। ऋण , क्रेडिट सिस्टम , ईएमआई और जीवनशैली ऋण आकस्मिक उपोत्पाद नहीं हैं —ये संरचनात्मक उपकरण हैं। उनका उद्देश्य सरल है : उपभोक्ता को वर्तमान से भविष्य तक प्रणाली में लॉक करना। ऋण उपभोग को एक क्षणिक क्रिया से दीर्घकालिक अनुशासन में बदल देता है।

ऐतिहासिक रूप से , ऋण एक आवश्यकता थी —अकाल, चिकित्सा आपात स्थितियों , या जीवित रहने के संकट के लिए उपयोग किया जाता था। आधुनिक उपभोक्ता पूंजीवाद ऋण को सामान्य और नैतिक बनाता है। आज , ऋण असफलता का संकेत नहीं है

बल्कि “जिम्मेदार वयस्कता” का एक चिह्न है। क्रेडिट कार्ड, अभी खरीदें - बाद में भुगतान करें योजनाएँ, और शून्य ब्याज ईएमआई उपभोग को तात्कालिक संतोष से जोड़ते हैं जबकि उपभोक्ता के भविष्य के श्रम की शपथ लेते हैं।

ऋण काम को अनिवार्य बनाता है न कि वैकल्पिक। ऋण, ईएमआई, और जीवनशैली की प्रतिबद्धताएँ रोजगार को पुनर्भुगतान के लिए एक तंत्र में बदल देती हैं न कि केवल जीवित रहने के लिए। उपभोक्ता नौकरी के शोषण या असंतोष को सहन करते हैं क्योंकि आर्थिक दबाव उन्हें सीमित करता है। ऋण श्रम अनुशासन का एक मौन उपकरण बन जाता है—कोई बाहरी प्राधिकरण या कानून की आवश्यकता नहीं है; ऋण स्वयं ही पर्याप्त है।

काम–उपभोग–दोहराने का चक्र निर्भरता को सामान्य बनाता है। उपभोक्ताओं को सिखाया जाता है कि काम का पुरस्कार उपभोग है: एक नया फोन, एक बेहतर जीवनशैली, एक उन्नत पहचान। लेकिन पुरस्कार कभी स्थिर नहीं होते। एक इच्छा को संतुष्ट करना दूसरी को ट्रिगर करता है, जो अक्सर अधिक महंगी होती है। आय वृद्धि उपभोग वृद्धि के साथ प्रतिस्पर्धा करती है, लेकिन संतोष कभी नहीं मिलता। उपभोक्ता एक निरंतर दौड़ में फंसे होते हैं; प्रणाली पूर्ण और संतुष्ट व्यक्तियों को नहीं चाहती, केवल प्रेरित, चिंतित, ऋणी व्यक्तियों को।

ऋण समय और भविष्य के विकल्पों को भी नियंत्रित करता है। ऋण जोखिम लेने, रचनात्मक अन्वेषण, राजनीतिक असहमति, या वैकल्पिक जीवनशैलियों के लिए विकल्पों को संकीर्ण करता है। उपभोक्ता “सुरक्षित” निर्णय लेने के लिए डिफ़ॉल्ट होते हैं क्योंकि विचलन की लागत उच्च होती है। उपभोक्तावाद समरूपता को पुरस्कृत करता है और विचलन को दंडित करता है।

सिद्धांत रूप में, स्वतंत्रता मौजूद है, लेकिन व्यावहारिक रूप से, यह वहन करने योग्य नहीं है — उपभोक्ता समाज का एक केंद्रीय विरोधाभास।

ऋण का मनोवैज्ञानिक प्रभाव गंभीर है। निरंतर वित्तीय दबाव चिंता, अपराधबोध, और आत्म-निंदा उत्पन्न करता है। उपभोक्ता आर्थिक तनाव को व्यक्तिगत अक्षमता के रूप में आंतरिक करते हैं न कि प्रणालीगत फंसाव के रूप में। यह आंतरिककरण प्रणाली के लिए पूरी तरह से काम करता है: इसके बजाय कि इसे प्रश्नित करें, लोग

अपने आप को अनुकूलित करते हैं —बेहतर बजट, उत्पादकता, और मेहनत। संरचनात्मक शोषण को आत्म-सुधार के रूप में छिपाया जाता है, जबकि प्रणाली बिना छुए रहती है।

ऋण के सामाजिक प्रभाव भी व्यापक हैं। जब बड़ी जनसंख्या ऋण के तहत काम करती है, तो सामूहिक प्रतिरोध कमजोर हो जाता है। ऋणी लोग सतर्क, अनुपालन करने वाले, और जोखिम-averse बन जाते हैं। हड़तालें, विरोध, और प्रणालीगत चुनौतियाँ महंगी हो जाती हैं। इस प्रकार, ऋण केवल एक आर्थिक उपकरण के रूप में कार्य नहीं करता बल्कि एक राजनीतिक स्थिरीकरण के रूप में भी। उपभोक्तावाद लोकतंत्र को खुलकर दबाता नहीं है —यह लोगों को बहुत व्यस्त, सीमित, और व्यस्त रखता है ताकि असहमति व्यावहारिक न लगे।

वैश्विक स्तर पर, यह तर्क और भी स्पष्ट है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में, उपभोक्तावाद आकांक्षा के माध्यम से प्रवेश करता है और ऋण के माध्यम से जड़ें जमाता है। मध्यवर्ग को "वैश्विक जीवनशैली" का सपना बेचा जाता है, जबकि वेतन और सामाजिक सुरक्षा गति बनाए रखने में विफल रहते हैं। परिणाम होता है पुरानी तनाव, अधिक काम, और सामान्यीकृत थकान। प्रणाली इस थकान को उत्पादकता और महत्वाकांक्षा के रूप में मनाती है। बर्नआउट को सम्मान का एक बैज के रूप में फिर से ब्रांड किया जाता है। यह उपभोक्ता पूंजीवाद का क्रूर विडंबना है: प्रणाली लोगों को थका देती है, फिर उन्हें उस थकान के समाधान बेचती है जिसे उसने उत्पन्न किया।

उपभोक्तावाद का सबसे कम आंका गया प्रभाव आर्थिक या भौतिक नहीं है, बल्कि मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक है। जब इच्छा लगातार उत्तेजित होती है, तो विकल्प एक भ्रांति में बदल जाता है, और पहचान

बाजार से जुड़ जाती है , तो अनिवार्य परिणाम एक मानसिक रूप से थका हुआ और सांस्कृतिक रूप से खोखला समाज होता है। उपभोक्तावाद समृद्धि और आराम का वादा करता है , लेकिन वास्तविक परिणाम अक्सर चिंता , असंतोष , और भावनात्मक खालीपन होता है। यह विरोधाभास आकस्मिक नहीं है ; यह उपभोक्ता समाज की आंतरिक तर्क का एक स्वाभाविक परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर , उपभोक्तावाद एक स्थायी असंतोष की स्थिति को सामान्य बनाता है। उपभोक्ताओं को सिखाया जाता है कि

पूर्णता अगली खरीद, अगली उन्नति, या अगली उपलब्धि के साथ आएगी। वर्तमान क्षण कभी भी पर्याप्त नहीं होता। व्यक्ति लगातार भविष्य की ओर उन्मुख हो जाते हैं: "जब मैं यह प्राप्त कर लूंगा, तो मैं खुश रहूंगा।" लेकिन जैसे ही एक क्षण आता है, प्रणाली तुरंत अगली इच्छा को पेश करती है। इस अंतहीन प्रत्याशा के चक्र में, संतोष क्षणिक और क्षणभंगुर होता है, जबकि लालसा स्थायी होती है। यह स्थिति चिंता और बेचैनी को सामान्य बनाती है। उपभोक्ता अपनी असुविधा को एक व्यक्तिगत कमजोरी के रूप में देखते हैं, जबकि वास्तव में यह एक प्रणालीगत रूप से उत्पन्न मानसिक स्थिति है।

तुलना संस्कृति इस मनोवैज्ञानिक लागत का एक केंद्रीय चालक है। उपभोक्तावाद व्यक्तित्व और अद्वितीयता की कहानी बेचता है, लेकिन व्यवहार में निरंतर तुलना को लागू करता है। सोशल मीडिया और विज्ञापनों के माध्यम से, लोग लगातार क्यूरेटेड, आदर्श जीवन देखते हैं—बेहतर शरीर, बेहतर घर, बेहतर रिश्ते, बेहतर सफलता की कहानियाँ। इस एक्सपोजर का संचयी प्रभाव यह है कि व्यक्ति हमेशा किसी और से कमतर महसूस करते हैं। आत्म-सम्मान सापेक्ष हो जाता है, मानसिक शांति को स्थायी रूप से अस्थिर करता है। इस संस्कृति में, आत्मविश्वास स्वाभाविक रूप से नहीं बढ़ता; यह अस्थायी मान्यता से आता है, जो फिर से उपभोग की मांग करता है।

संस्कृति के दृष्टिकोण से, उपभोक्तावाद पारंपरिक अर्थ-निर्माण के स्रोतों को कमजोर करता है। पहले, लोग मूल्यों, दर्शन, कला, सामुदायिक प्रथाओं और साझा कथाओं के माध्यम से अर्थ प्राप्त करते थे। उपभोक्ता समाज में, अर्थ को प्रतिस्थापित नहीं किया जाता, बल्कि इसे आउटसोर्स किया जाता है—

ब्रांड की कथाओं , जीवनशैली के लक्ष्यों और आकांक्षात्मक छवियों के माध्यम से। जीवन का उद्देश्य अब व्यक्तिगत विकास या सामूहिक कल्याण के चारों ओर नहीं घूमता ; यह "साथ बनाए रखने " और "प्रासंगिक बने रहने " के बारे में हो जाता है। यह बदलाव संस्कृति को गहराई खोने का कारण बनता है। प्रतीक और अनुष्ठान खोखले हो जाते हैं क्योंकि उनका संदर्भ बिंदु बाजार होता है , न कि जीती हुई अनुभव।

उपभोक्तावाद रिश्तों पर भी गहरा प्रभाव डालता है। जब आत्म -सम्मान और पहचान उपभोग के माध्यम से परिभाषित होती है , तो मानव

रिश्ते धीरे -धीरे लेन -देन में बदल जाते हैं। लोगों का मूल्यांकन , सचेत या अनजाने में , उनके स्थिति संकेतों , जीवनशैली के मार्करों और उपयोगिता के आधार पर किया जाता है। दोस्ती , प्यार और सामाजिक बंधन अब अधिकतर प्रस्तुति और जीवनशैली की संगतता पर निर्भर करने लगे हैं , न कि प्रामाणिकता पर। यह लेन -देन की प्रवृत्ति निकटता को कमजोर करती है , क्योंकि वास्तविक संबंध के लिए संवेदनशीलता और उपस्थिति की आवश्यकता होती है , जो तेज़ -तर्रार , प्रदर्शन -प्रेरित उपभोक्ता वातावरण में हतोत्साहित की जाती है।

उपभोक्ता समाजों में मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँ जैसे चिंता , अवसाद और बर्नआउट असमान रूप से उच्च हैं। इसका कारण केवल कार्य का दबाव या प्रौद्योगिकी नहीं है , बल्कि अस्तित्वगत थकान है — एक प्रकार की थकान जो तब होती है जब जीवन का कोई स्थिर अर्थ नहीं होता। उपभोक्तावाद लोगों को व्यस्त रखता है लेकिन असंतुष्ट भी। उपलब्धि , उन्नति और प्रदर्शन का निरंतर दबाव होता है। इस दबाव के खिलाफ , विश्राम , स्थिरता और संतोष को आलस्य या महत्वाकांक्षा की कमी के रूप में चित्रित किया जाता है। मनोवैज्ञानिक पुनर्प्राप्ति स्थानों को नैतिक रूप से संदिग्ध बना दिया जाता है।

उपभोक्तावाद के तहत सांस्कृतिक कल्पना भी सिकुड़ जाती है। जब हर समस्या का समाधान एक उत्पाद के रूप में कल्पना की जाती है , तो वैकल्पिक जीवन के तरीके — सामूहिक देखभाल , सरलता , गैर -बाजार रचनात्मकता — अवास्तविक या अप्रासंगिक लगते हैं। उपभोक्तावाद कल्पना को सीमित करता है ; यह केवल उन भविष्य की प्रस्तुतियाँ करता है जो बाजार के माध्यम से प्राप्त की जा सकती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि

लोग सोचना बंद कर देते हैं।

सिस्टम के बाहर।

एक और महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव आत्म-परायापन है। जब व्यक्ति अपने इच्छाओं को बाजार के संकेतों से प्राप्त करते हैं, तो वे धीरे-धीरे अपनी आंतरिक आवाज़ से disconnect हो जाते हैं। वे यह पहचान नहीं पाते कि वे वास्तव में क्या चाहते हैं—आराम, संबंध, रचनात्मकता, उद्देश्य—क्योंकि प्रणाली ने पहले से ही उन्हें इच्छाओं के लिए एक तैयार पाठ्यक्रम दे दिया है। इस परायापन को "भ्रम" या "प्रेरणा की कमी" के रूप में देखा जाता है, जबकि वास्तव में, यह एक संरचनात्मक परिणाम है।

संस्कृति के दृष्टिकोण से, उपभोक्तावाद एक ऐसा समाज उत्पन्न करता है जो सतही रूप से समृद्ध है लेकिन गहराई में गरीब है। यहाँ सौंदर्य, प्रवृत्तियों और नवीनता की प्रचुरता है, लेकिन ज्ञान, धैर्य और दीर्घकालिक सोच की कमी है। कला मुख्यतः सामग्री बन जाती है—जल्दी उपभोग करने योग्य, एल्गोरिदम के अनुकूल, और नष्ट करने योग्य। ज्ञान को उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखा जाता है: क्या यह पैसे बनाएगा? क्या यह मेरे करियर में मदद करेगा? इस ढांचे के भीतर, दार्शनिक, नैतिक, और अस्तित्व संबंधी प्रश्न सीमांत बन जाते हैं, क्योंकि यह तात्कालिक लाभ का वादा नहीं करते।

उपभोक्तावाद के पर्यावरणीय प्रभाव को अक्सर "साइड इफेक्ट" के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, और संसाधनों का क्षय, जो दुर्भाग्यपूर्ण लेकिन प्रबंधनीय परिणाम हैं। एक गहरे विश्लेषण से पता चलता है कि पारिस्थितिकीय विनाश एक उप-उत्पाद नहीं है, बल्कि एक संरचनात्मक परिणाम है। अंतहीन उपभोग पर आधारित एक प्रणाली सीमित ग्रह पर टिकाऊ नहीं हो सकती। उपभोक्तावाद की मूल तर्कशक्ति—अधिक उत्पादन, अधिक बिक्री, तेजी से प्रतिस्थापन—प्रकृति की बुनियादी सीमाओं के साथ सीधे टकराती है। इसलिए, पर्यावरणीय संकट एक आकस्मिक विफलता नहीं है, बल्कि उपभोक्ता समाज के डिज़ाइन का तार्किक परिणाम है।

उपभोक्तावाद उत्पादन को आवश्यकता के अनुसार नहीं, बल्कि अस्थिर इच्छाओं के अनुसार संचालित करता है। इच्छाएँ अस्थिर होती हैं, इसलिए उत्पादन को लगातार बढ़ाना और तेज करना आवश्यक है। प्राकृतिक संसाधनों को "इनपुट" के रूप में देखा जाता है - जंगलों को कच्चे माल के रूप में, नदियों को

अपशिष्ट चैनलों के रूप में , और वायुमंडल को कचरे के निपटान के स्थान के रूप में। प्रकृति का मूल्य अंतर्निहित नहीं है , बल्कि निकालने योग्य और उपयोगितावादी है। जो कुछ भी बाजार के लिए उपयोगी नहीं है , वह फेंकने योग्य है। यह विश्वदृष्टि पर्यावरणीय नैतिकता के विपरीत है।

अधिक उत्पादन उपभोक्तावाद का पारिस्थितिकी इंजन है। उत्पाद बनाए जाते हैं न कि इसलिए कि लोगों को उनकी आवश्यकता है , बल्कि इसलिए कि बाजार को बढ़ना चाहिए। अधिक उत्पादन सीधे विशाल अपशिष्ट का परिणाम है —कपड़े जो कभी नहीं पहने जाते , गैजेट्स जो जल्दी ही अप्रचलित हो जाते हैं।

पुराने , पैकेजिंग जो उपयोग से अधिक विज्ञापन की सेवा करती है। नियोजित अप्रचलन यहाँ केंद्रीय है : उत्पादों को जानबूझकर एक छोटे जीवनकाल के साथ डिज़ाइन किया गया है। प्रतिस्थापन चक्र तेज़ होते हैं , और निष्कर्षण -उत्पादन -निपटान चक्र तीव्र होता है।

जलवायु परिवर्तन उपभोक्तावाद का सबसे स्पष्ट पारिस्थितिकीय परिणाम है। जीवाश्म ईंधन पर निर्भर वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाएँ , तेज़ लॉजिस्टिक्स , और ऊर्जा -गहन जीवनशैली ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को सामान्य बनाते हैं। उपभोक्ता समाज सुविधा को एक गुण के रूप में प्रस्तुत करता है —तेज़ डिलीवरी , डिस्पोजेबल सामान , निरंतर उपलब्धता —लेकिन पारिस्थितिकीय लागत अदृश्य होती है। कार्बन पदचिह्नों को व्यक्तिगत जिम्मेदारियों में बदल दिया जाता है , जबकि प्रणालीगत उपभोग पैटर्न बिना छुए रहते हैं। यह कथा उपभोक्ताओं पर दोष डालती है , जिससे प्रणाली बरकरार रहती है।

उपभोक्तावाद जैव विविधता के नुकसान को भी बढ़ावा देता है। कृषि , खनन, बुनियादी ढांचे और शहरी विस्तार के लिए भूमि की सफाई प्रजातियों के आवासों को नष्ट कर देती है। फिर भी , उपभोक्ता कथा इस विनाश को "विकास " और "प्रगति " के रूप में सही ठहराती है। जब उपभोग वृद्धि सफलता का अंतिम संकेतक बन जाती है , तो पारिस्थितिकी स्थिरता एक द्वितीयक चिंता बन जाती है। प्रजातियों का विलुप्त होना एक दुर्भाग्यपूर्ण सांख्यिकी में घटित हो जाता है , न कि जीवन प्रणालियों के अपरिवर्तनीय नुकसान के रूप में। गैर -मानव जीवन बाजार ढांचे के बाहर लगभग अदृश्य हो जाता है।

एक और महत्वपूर्ण मुद्दा है अपशिष्ट

उपनिवेशवाद। उपभोक्ता समाज अपने अपशिष्ट — प्लास्टिक , इलेक्ट्रॉनिक्स , विषैले पदार्थ — वैश्विक दक्षिण क्षेत्रों में निर्यात करते हैं।
यह पारिस्थितिकीय बोझ को असमान रूप से वितरित करता है। समृद्ध उपभोक्ता स्वच्छ वातावरण का आनंद लेते हैं , जबकि हाशिए पर रहने वाले समुदाय प्रदूषण , स्वास्थ्य खतरों और पर्यावरणीय गिरावट का सामना करते हैं। यहां उपभोक्तावाद न केवल पारिस्थितिकीय , बल्कि नैतिक अन्याय भी उत्पन्न करता है —यह असमानता का एक वैश्विक विस्तार है , जहां उपभोग की सुख -सुविधाएं एक स्थान पर केंद्रित होती हैं और विनाश कहीं और होता है।

हरा उपभोक्तावाद अक्सर एक समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है —पर्यावरण के अनुकूल उत्पाद, स्थायी ब्रांड, नैतिक उपभोग। लेकिन यह दृष्टिकोण मूल रूप से समस्या को संबोधित नहीं करता है। जब तक अंतहीन उपभोग की मूल तर्कशक्ति बनी रहती है, "हरा विकल्प" केवल सौंदर्यात्मक समायोजन होते हैं। अत्यधिक उपभोग के साथ स्थायी पैकेजिंग अस्थायी बनी रहती है। हरा उपभोक्तावाद प्रणाली को चुनौती नहीं देता; यह उपभोक्ताओं को जिम्मेदारी का एहसास कराता है जबकि उत्पादन और विकास की संरचनाएं अपरिवर्तित रहती हैं। यह पारिस्थितिकीय संकट का नैतिक आउटसोर्सिंग है।

उपभोक्तावाद का सबसे खतरनाक पारिस्थितिकीय प्रभाव इसकी सीमाओं का इनकार है। ग्रहों की सीमाएँ —सीमित संसाधन, पुनर्जनन क्षमता, पारिस्थितिक संतुलन —बाजार की कथाओं में असुविधाजनक सत्य बन जाती हैं। उपभोक्ता संस्कृति भविष्य को नजरअंदाज करती है और तात्कालिक संतोष को प्राथमिकता देती है। यह तात्कालिकता दीर्घकालिक पारिस्थितिकीय पतन की ओर ले जाती है। जलवायु के ट tipping बिंदु, जल की कमी, मिट्टी का क्षय —ये चेतावनियाँ उपभोक्ता समाज के शोर में डूब जाती हैं। विकास का वादा सीमाओं को स्वीकार करना कमजोरी के रूप में प्रस्तुत करता है।

दार्शनिक रूप से, उपभोक्तावाद मूल रूप से मनुष्यों के प्रकृति के साथ संबंध को विकृत करता है। लोग खुद को पारिस्थितिकी तंत्र का हिस्सा नहीं बल्कि इसके प्रबंधक और शोषक के रूप में देखने लगते हैं। प्रकृति एक पृष्ठभूमि बन जाती है — इंस्टाग्राम की सौंदर्यशास्त्र या संसाधन निष्कर्षण के लिए। यह परायापन पारिस्थितिकीय विनाश को भावनात्मक रूप से दूर कर देता है। जब कोई

संबंध नहीं होता, तो देखभाल सतही होती है। पर्यावरणीय संकट केवल तब ही तात्कालिक लगता है जब यह सीधे जीवनशैली को बाधित करता है।

आधुनिक उपभोक्ता समाज खुद को स्वतंत्रता के सबसे उन्नत रूप के रूप में प्रस्तुत करता है। हमें बताया जाता है कि हम इतिहास में सबसे स्वतंत्र लोग हैं—हम वह खरीद सकते हैं जो हम चाहते हैं, वह पहन सकते हैं जो हम चाहते हैं, वह देख सकते हैं जो हम चाहते हैं, और अपनी पसंद के अनुसार अपने जीवन को डिजाइन कर सकते हैं। इस कथा के केंद्र में विकल्प है। लेकिन जब यह विकल्प है

गंभीरता से विश्लेषण करने पर, यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्तावाद के तहत प्रदर्शित स्वतंत्रता मुख्य रूप से भ्रांतिपूर्ण है—एक सावधानीपूर्वक तैयार की गई स्वतंत्रता जो केवल प्रणाली की सीमाओं के भीतर मौजूद है।

उपभोक्तावाद स्वतंत्रता को फिर से परिभाषित करता है। हम सामान्यतः स्वतंत्रता को "जो चाहें वो करने की क्षमता" के रूप में समझते हैं, लेकिन समस्या यहीं से शुरू होती है, क्योंकि हम अपनी इच्छाओं, डर, महत्वाकांक्षाओं या पृष्ठभूमि का चयन नहीं करते। हम जहाँ पैदा होते हैं—परिवार, वर्ग, संस्कृति, आर्थिक स्थिति—यह पूर्वनिर्धारित होता है। पूर्ण स्वतंत्र इच्छा एक भ्रांति है।

वर्तमान पूंजीवादी दुनिया में, स्वतंत्रता का अर्थ और भी विकृत हो गया है। पूंजीवाद स्वतंत्रता को बाजार के विकल्प के रूप में परिभाषित करता है—आप अपनी नौकरी चुन सकते हैं, ब्रांड चुन सकते हैं, अपनी जीवनशैली चुन सकते हैं। सतह पर, यह सब स्वतंत्रता के रूप में दिखाई देता है, लेकिन वास्तव में, यह केवल पूर्व-निर्धारित विकल्पों के बीच चयन है, न कि प्रणाली से परे जाने की स्वतंत्रता। जब काम न करने से भूख, बेघर होना, या सामाजिक बहिष्कार होता है, तो विकल्प वास्तविक नहीं रह जाता—यह मजबूरी बन जाता है। पूंजीवाद इच्छाएँ उत्पन्न करता है—विज्ञापनों, मीडिया, और सामाजिक तुलना के माध्यम से—और फिर दावा करता है, "देखो, आप स्वतंत्र हैं, खरीदें।"

यह भ्रांति लोकतंत्र से भी निकटता से जुड़ी हुई है। एक उपभोक्ता समाज में, नागरिकों को धीरे-धीरे उपभोक्ता-नागरिकों में परिवर्तित किया जाता है। राजनीतिक भागीदारी मतदान तक सीमित हो जाती है, जबकि

बाजार की तर्कशास्त्र लोकतंत्र पर छा जाती है : जैसे उत्पाद बाजार में प्रतिस्पर्धा करते हैं , राजनीतिक दल और विचारधाराएँ "बेची " जाती हैं। चुनावी अभियान प्रदर्शन बन जाते हैं , नारे ब्रांडों की तरह व्यवहार करते हैं , और नेता प्रभावशाली व्यक्तियों के रूप में विपणन किए जाते हैं।

उपभोक्तावाद का सबसे खतरनाक प्रभाव यह है कि यह उपभोग के माध्यम से राजनीतिक असंतोष को फैलाता है। यदि आप नौकरी की असुरक्षा , असमानता , या सामाजिक अन्याय से निराश हैं , तो प्रणाली इस निराशा को खुदरा चिकित्सा , मनोरंजन , और खरीदारी में चैनल करती है। स्ट्रीमिंग प्लेटफार्म , गैजेट्स , और जीवनशैली के उन्नयन

मानसिक सुरक्षा वाल्व के रूप में कार्य करते हैं, जबकि संरचनात्मक समस्याएँ बरकरार रहती हैं।

फिर से विकल्प केंद्रीय बन जाता है। उपभोक्ता समाज लगातार हमें बताता है कि हम स्वतंत्र हैं क्योंकि हम चुन सकते हैं। लेकिन इन विकल्पों की उत्पत्ति को शायद ही कभी questioned किया जाता है। इच्छाएँ स्वाभाविक नहीं होतीं; वे निर्मित, बढ़ाई गई, और सामान्यीकृत होती हैं। जब आप "चुनते" हैं कुछ ऐसा जो पहले से ही एक एल्गोरिदम द्वारा अनुशंसित किया गया है, विज्ञापन द्वारा महिमामंडित किया गया है, और सामाजिक दबाव द्वारा सामान्यीकृत किया गया है, तो यह विकल्प कितना स्वायत्त है? उपभोक्तावाद स्वतंत्रता को एक आंतरिक अनुभव में बदल देता है—"मैं स्वतंत्र महसूस करता हूँ"—जबकि उस भावना की जड़ें बाहरी शक्ति संरचनाओं में होती हैं।

यह लोकतांत्रिक समानता को भी प्रभावित करता है। बाजार आधारित स्वतंत्रता स्वाभाविक रूप से असमान है क्योंकि खरीदने की शक्ति असमान है। धनी उपभोक्ता के पास अधिक विकल्प होते हैं—बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, जीवनशैली, और प्रभाव—जबकि गरीबों के लिए स्वतंत्रता मुख्यतः सैद्धांतिक रहती है। फिर भी उपभोक्ता विचारधारा insists करती है कि सभी समान हैं क्योंकि "बाजार सभी के लिए खुला है।" इस प्रकार असमानता को व्यक्तिगत विफलता के रूप में ढाला जाता है न कि प्रणालीगत अन्याय के रूप में। लोकतंत्र का वादा—राजनीतिक समानता—चुपचाप बाजार की तर्कशास्त्र के तहत eroded हो जाता है।

उपभोक्तावाद अपने आप को एक तटस्थ आर्थिक व्यवहार के रूप में प्रस्तुत करता है—जैसे कि यह केवल खरीदने और बेचने का एक उन्नत रूप है। लेकिन एक

आलोचनात्मक विश्लेषण यह प्रकट करता है कि यह एक समग्र प्रणाली है जो न केवल बाजारों को बल्कि मानव चेतना, पहचान, और सामाजिक संबंधों को भी आकार देती है। यह प्रणाली केवल उत्पादों को नहीं बेचती; यह अर्थ, संबंध, और उद्देश्य को बेचती है—और ऐसा करते हुए, यह व्यक्ति को बाजार की तर्कशास्त्र के भीतर फिर से परिभाषित करती है।

उपभोक्तावाद ने पहचान को एक आंतरिक प्रक्रिया से एक बाहरी प्रदर्शन में बदल दिया है। लोग अब अपने आप को "मैं कौन हूँ?" के बजाय "मेरे पास क्या है?" के माध्यम से समझते हैं। इस बदलाव का सबसे गंभीर परिणाम यह है कि आत्म-मूल्य

अस्थिर हो जाता है, जो बाजार के रुझानों के साथ उतार-चढ़ाव करता है। ऐसी पहचान कभी भी स्थिर नहीं हो सकती क्योंकि बाजार का कार्य ही परिवर्तन उत्पन्न करना है। चिंता, तुलना, और खालीपन इसलिए उपभोक्ता समाज के आकस्मिक दुष्प्रभाव नहीं हैं; वे इसके संरचनात्मक परिणाम हैं।

जब विश्वास एक पिंजरा बन जाता है

‘हॉमो सेपियन्स’ की सबसे विशिष्ट विशेषताओं में से एक हमारी शारीरिक ताकत, गति, या यहां तक कि समस्या-समाधान में हमारी कच्ची बुद्धिमत्ता नहीं है। जो वास्तव में हमें अन्य सभी प्रजातियों से अलग करता है, वह है हमारी कल्पना करने, काल्पनिक कहानियाँ बनाने, और बड़ी संख्या में लोगों को उन पर विश्वास करने के लिए प्रेरित करने की क्षमता। इस क्षमता को अक्सर ‘संज्ञानात्मक क्रांति’ कहा जाता है, जो लगभग 70,000 साल पहले हुई थी। इस अवधि के दौरान, मनुष्यों ने जटिल भाषा, अमूर्त अवधारणाएँ, और साझा मिथकों को बनाने की तंत्रिका क्षमता विकसित की।

अधिकतर जानवर तत्काल वास्तविकताओं के बारे में संवाद कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक चिम्पांजी संकेत कर सकता है कि पास में एक शेर है या कि एक विशेष फल का पेड़ पके अंजीरों से भरा हुआ है। लेकिन यह यह संवाद नहीं कर सकता कि "शेर हमारे कबीले की संरक्षक आत्मा है" या "यदि हम सभी इस पेड़ का सम्मान करते हैं, तो हमारा जनजाति prosper करेगी।" केवल मनुष्य ऐसी कल्पित वास्तविकताओं का आविष्कार और संचार कर सकते हैं। यह अद्वितीय मनोवैज्ञानिक क्षमता, जो ऐसी कहानियों में विश्वास करने की है जो

भौतिक दुनिया में मौजूद नहीं हैं —चाहे वे देवता हों, राष्ट्र हों, पैसे हों, या कानून हों —यह अजनबियों के बीच बड़े पैमाने पर सहयोग को सक्षम बनाती है। धर्म इस संज्ञानात्मक क्षमता की सबसे प्रारंभिक और सबसे शक्तिशाली अभिव्यक्तियों में से एक है।

प्रारंभिक शिकारी-इकट्ठा करने वाले समाजों में, धर्म ने एनिमिज़्म के रूप में रूप लिया। एनिमिज़्म यह विश्वास है कि प्रकृति के हर तत्व —नदियाँ, पहाड़, पेड़, जानवर —में एक आत्मा या चेतना होती है। यह विश्वदृष्टि छोटे, घुमंतू

समुदाय जहाँ जीवित रहने के लिए पर्यावरण का निकटता से अवलोकन करना आवश्यक था।

यदि शिकारियों के एक समूह ने कई दिनों तक हिरण नहीं पकड़े , तो वे इसे इस कहकर समझा सकते थे कि हिरण की आत्मा नाराज थी। यदि एक तूफान ने उनका शिविर नष्ट कर दिया , तो वे यह निष्कर्ष निकाल सकते थे कि नदी या पहाड़ की आत्मा असंतुष्ट थी। ऐसे स्पष्टीकरण उनके ऐतिहासिक संदर्भ में असंगत नहीं थे। बल्कि , उन्होंने एक जटिल दुनिया में अनिश्चितता और खतरे को समझने के लिए एक मनोवैज्ञानिक ढांचा प्रदान किया।

मनोवैज्ञानिक रूप से , आत्मा विश्वास ने एक गहरी मानव प्रवृत्ति को संतुष्ट किया जिसे एजेंट पहचानना कहा जाता है - हमारे मस्तिष्क की आदत प्राकृतिक घटनाओं को एजेंसी या इरादे का श्रेय देने की। जीवित रहने के लिए , यह बेहतर है कि हम झाड़ियों में हलचल को एक शिकारी मान लें , बजाय इसके कि इसे नजरअंदाज करें और खा लिए जाएं। यही पूर्वाग्रह प्रारंभिक मानवों को प्राकृतिक घटनाओं के पीछे इरादे वाले आत्माओं को देखने के लिए प्रोत्साहित करता था। हजारों वर्षों में , यह पूरी तरह से विकसित आत्मा विश्वास धर्मों में विकसित हुआ।

'कृषि क्रांति ' के साथ , लगभग 12,000 साल पहले , मानवों ने स्थायी गांवों में बसना शुरू किया , पौधों और जानवरों को पालतू बनाया , और बड़े समुदायों का निर्माण किया। सामाजिक संरचनाएं अधिक जटिल हो गईं , और विश्वास प्रणाली भी। हर चट्टान और पेड़ में अनगिनत आत्माओं के बजाय , लोगों ने जीवन के विशिष्ट पहलुओं को नियंत्रित करने वाले विशेष देवताओं की अवधारणा करना शुरू किया।

उर्वरता का एक देवता फसल को आशीर्वाद दे सकता था , बारिश का एक देवता मानसून ला सकता था , और युद्ध का एक देवता जनजाति को दुश्मनों से बचा सकता था। यही बहुदेववाद का जन्म था। बहुदेववाद प्रारंभिक कृषि समाजों की वास्तविकताओं को दर्शाता है : जैसे समाज में विशेष भूमिकाएँ थीं —किसान , सैनिक , शासक—वैसे ही दिव्य क्षेत्र में भी।

बहु देववाद ने राजनीतिक दृष्टि से भी अर्थपूर्णता प्रदान की। विभिन्न समुदाय अपने देवताओं को एकीकृत कर सकते थे , एक-दूसरे के देवताओं को स्वीकार करते हुए , उन्हें अस्वीकार करने के बजाय। जब दो जनजातियाँ एकजुट होती थीं , तो लड़ाई करने के बजाय

जिसके भगवान सच्चे थे, वे इस पर सहमत हो सकते थे कि दोनों प्रकार के देवताओं का अस्तित्व था। यह लचीलापन बहुदेववाद को इतिहास में सबसे स्थायी धार्मिक प्रणालियों में से एक बनाता है, जो प्राचीन सुमेरियन/मेसोपोटामियन पौराणिक कथाओं, मिस्र की पौराणिक कथाओं आदि के रूपों में जीवित रहता है।

हालाँकि समय के साथ, कुछ संस्कृतियाँ बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर बढ़ीं - एक सर्वोच्च भगवान में विश्वास। यह एक अनिवार्य कदम नहीं था, बल्कि एक कट्टर परिवर्तन था। कई देवताओं के विभाजित शक्तियों के बजाय, एक एकल भगवान को ब्रह्मांड का सार्वभौमिक शासक के रूप में कल्पना की गई।

एकेश्वरवाद ने सरलता और शक्ति दोनों की पेशकश की। यह दावा करते हुए कि एक भगवान सभी सत्य और नैतिकता का स्रोत है, इसने एक एकीकृत नैतिक व्यवस्था बनाई। लेकिन इसने विशेषता भी पेश की। बहुदेववाद में, आपका भगवान और मेरा भगवान सह-अस्तित्व में हो सकते थे। एकेश्वरवाद में, यदि एक भगवान सत्य है, तो सभी अन्य झूठे होने चाहिए। इस बदलाव ने धार्मिक संघर्ष को तीव्र किया, क्योंकि विभिन्न एकेश्वरवादी परंपराओं के अनुयायी - यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम - केवल क्षेत्र के लिए नहीं बल्कि पूर्ण सत्य के लिए लड़े।

मनोवैज्ञानिक रूप से, एकेश्वरवाद ने मानवता की व्यवस्था और सामंजस्य की आवश्यकता को संतुष्ट किया। कई मनमौजी देवताओं द्वारा शासित एक दुनिया अराजक लग सकती थी, लेकिन एक सर्वोच्च प्राणी द्वारा शासित एक दुनिया संरचित और उद्देश्यपूर्ण लगती थी। साथ ही, इस विश्वदृष्टि ने शासकों को एक शक्तिशाली उपकरण प्रदान किया: राजा और सम्राट दिव्य अधिकार का दावा कर सकते थे, अपने शासन को एकमात्र सच्चे भगवान

की इच्छा के रूप में प्रस्तुत कर सकते थे।

प्रारंभिक धर्म, चाहे वे आत्मा-पूजक हों या बहुदेववादी, आमतौर पर स्थानीय होते थे। वे एक विशिष्ट जनजाति, संस्कृति या क्षेत्र से संबंधित थे। लेकिन जैसे-जैसे साम्राज्य विस्तारित हुए और व्यापार नेटवर्क बढ़े, सार्वभौमिक धर्मों का उदय हुआ - विश्वास प्रणालियाँ जो दावा करती थीं कि उनके सत्य सभी मनुष्यों पर लागू होते हैं, चाहे जन्मस्थान या जातीयता कुछ भी हो।

ईसाई धर्म और इस्लाम इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ये न केवल विजय के माध्यम से बल्कि व्यापार, प्रवासन और मिशनरी कार्य के माध्यम से भी फैले। इन धर्मों ने किसी भी व्यक्ति को जो विश्वास करता था, मुक्ति या उद्धार का वादा किया, जिससे आध्यात्मिक समुदाय बने जो स्थानीय पहचान को पार कर गए।

धर्म ने सामाजिक पदानुक्रम को भी उचित ठहराया। राजाओं ने दिव्य अधिकार का दावा किया, पुजारियों ने अनुष्ठानों को नियंत्रित किया, और जाति या वर्ग विभाजन को देवताओं द्वारा निर्धारित के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार, धर्म ने असमान शक्ति प्रणालियों को स्थिर किया, जिससे उन्हें स्वाभाविक और शाश्वत प्रतीत किया गया। आधुनिक मनोविज्ञान यह समझने में मदद करता है कि धर्म इतना आकर्षक क्यों था। मानवों में कई संज्ञानात्मक पूर्वाग्रह होते हैं जो विश्वास को लगभग अनिवार्य बनाते हैं।

अलौकिक में विश्वास

1. एजेंसी डिटेक्शन पूर्वाग्रह - हम मानते हैं कि घटनाओं के इरादतन कारण होते हैं। यह देवताओं और आत्माओं को तूफानों, बीमारियों या फसल विफलताओं के लिए एक स्वाभाविक स्पष्टीकरण बनाता है।

2. मन का सिद्धांत - दूसरों के विचारों की कल्पना करने की हमारी क्षमता हमें यह भी कल्पना करने की अनुमति देती है कि अदृश्य प्राणियों के विचार क्या हो सकते हैं। यदि मैं अपने पड़ोसी के इरादों का अनुमान लगा सकता हूँ, तो मैं बारिश के देवता के इरादों का भी अनुमान लगा सकता हूँ।

3.पैटर्न-खोज - मानवता यादृता को नापसंद करती है। हम अर्थपूर्ण पैटर्न देखना पसंद करते हैं, भले ही कोई न हो। धर्म ने अप्रत्याशित घटनाओं के लिए सांत्वना देने वाली कथाएँ प्रदान कीं।

4. मृत्यु का भय - धर्म ने मृत्यु के बाद के जीवन के

बारे में उत्तर प्रदान किए , अस्तित्व संबंधी चिंता को कम किया और व्यक्तियों को समूह के लिए बलिदान करने के लिए अधिक इच्छुक बनाया।

ये मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ धर्म को मानव मस्तिष्क में गहराई से "चिपचिपा " बना देती हैं। आज भी , जब वैज्ञानिक व्याख्याएँ मौजूद हैं , कई लोग अभी भी सहज रूप से अलौकिक सोच की ओर झुकते हैं क्योंकि यह इन प्राचीन संज्ञानात्मक शॉर्टकट्स के साथ गूंजता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए , तो धर्म को स्वर्ग से प्रकट होने के रूप में नहीं बल्कि मानव

मन का उत्पाद समझा जाना चाहिए - हमारी संज्ञानात्मक संरचना , हमारी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ , और हमारी सामाजिक संरचनाएँ। इसने एक अराजक दुनिया को अर्थ दिया , नैतिक नियम प्रदान किए , और शक्ति प्रणालियों को उचित ठहराया। इसने मनुष्यों को शिकारी -इकट्ठा करने वालों के छोटे समूहों से विशाल सभ्यताओं और साम्राज्यों में स्थानांतरित करने में मदद की।

यह यह भी संकेत करता है कि धर्म शाश्वत नहीं है। जैसे कि एनिमिज़्म धीरे -धीरे बहु -देववाद में बदल गया , और बहु -देववाद एकेश्वरवाद में , आज के विश्वास प्रणाली अंतिम गंतव्य नहीं हैं। ये भी अंततः प्रतिस्थापित हो सकते हैं - नए अर्थ और संबंध के ढाँचे के लिए रास्ता बनाते हुए , जो भविष्य की सामाजिक परिस्थितियों , ज्ञान प्रणालियों , और मानव आवश्यकताओं द्वारा आकारित होंगे , शायद ऐसे रूपों में जो अभी तक कल्पना में नहीं हैं।

निरंतर धागा स्वयं देवताओं में नहीं है बल्कि साझा कल्पनाओं को आविष्कार करने और सामूहिक रूप से उन पर विश्वास करने की मानव क्षमता में है। यही , अन्य किसी चीज़ से अधिक , हमें मानव बनाता है।

आप किस पर विश्वास करते हैं , और क्यों ? क्या आपने कभी अपने गहरे विश्वासों की जड़ों की जांच की है ?

हमारे समाज में , विशेष रूप से धर्म के संबंध में , बिना सबूत के किसी चीज़ पर विश्वास करना न केवल स्वीकार्य है बल्कि इसे एक गुण माना जाता है। इसे विश्वास कहा जाता है। लेकिन क्या यह वास्तव में एक गुण है , या यह एक मानसिक कमजोरी है जिसे हमने सम्मान के वस्त्र में लपेटा है ? इस पर विचार करें : यदि एक मित्र आपको बताता है कि उनके बगीचे में एक अदृश्य यूनिकॉर्न है , तो आप क्या कहेंगे ? आप शायद उनसे सबूत मांगेंगे। यदि वे कहते हैं कि सबूत की कोई

आवश्यकता नहीं है और वे बस विश्वास करते हैं, तो आप उनकी मानसिक स्वास्थ्य के बारे में चिंता करने लगेंगे।

लेकिन जब अरबों लोग एक अदृश्य, सर्वशक्तिमान प्राणी के बारे में यही कहते हैं, तो हम इसे विश्वास कहते हैं और इसका सम्मान करते हैं।

विश्वास - अर्थात्, बिना पर्याप्त सबूत के किसी चीज़ को सत्य के रूप में स्वीकार करना - किसी भी क्षेत्र में एक दोष है। तो धर्म के क्षेत्र में यह गुण क्यों बन जाता है? विश्वास वास्तव में क्या है?

विश्वास केवल एक हानिरहित व्यक्तिगत भावना नहीं है। यह एक मानसिक ढांचा है जो हमें सिखाता है कि कुछ प्रश्न पूछना गलत है। कुछ विचारों पर संदेह करना पाप है। यह हमें बताता है कि कुछ पुस्तकें इतनी पवित्र हैं कि उनमें हर शब्द को सच के रूप में शाब्दिक रूप से लिया जाना चाहिए, भले ही वे शब्द आधुनिक विज्ञान, तर्क और नैतिकता के साथ पूरी तरह से विरोधाभासी हों।

क्या आप अपने पैसे उस बैंक में जमा करेंगे जो कहता है, "हमारे पास कोई सुरक्षा प्रणाली नहीं है; बस हम पर विश्वास करें"? क्या आप उस डॉक्टर द्वारा सर्जरी करवाएंगे जो कहता है, "मैंने कभी चिकित्सा का अध्ययन नहीं किया, लेकिन मुझे विश्वास है कि मैं इसे कर सकता हूँ"? नहीं, आप ऐसा नहीं करेंगे। जीवन के हर क्षेत्र में, आप प्रमाण की मांग करते हैं, योग्यताओं की जांच करते हैं, और तर्क का उपयोग करते हैं।

तो जब जीवन के सबसे महत्वपूर्ण सवालों की बात आती है, जैसे: ब्रह्मांड कैसे बना? हमारा उद्देश्य क्या है? मृत्यु के बाद क्या होता है? तब हम तर्क के दरवाजे को क्यों बंद कर देते हैं? विश्वास का सम्मान करना वास्तव में तर्क का अपमान करना है। यह एक मानसिक आदत है जो हमें दुनिया को उसके वास्तविक रूप में देखने से रोकती है और हमें इसे उस रूप में देखने के लिए मजबूर करती है जैसा हम चाहते हैं।

अब आप सोच रहे होंगे, इसमें खतरा क्या है? अगर कोई अपने घर में शांति से कुछ मानता है, तो यह दूसरों को कैसे नुकसान पहुंचाता है? लेकिन हमारे विश्वास हमारे कार्यों को आकार देते हैं। जो हम मानते हैं, वही हम करते हैं।

अगर कोई व्यक्ति मानता है कि एक विशेष पुस्तक

कहती है कि अविश्वासियों को नष्ट करना चाहिए, तो यह अब केवल एक विचार नहीं रह जाता—यह एक खतरनाक विचारधारा बन जाती है जो हिंसा की ओर ले जा सकती है। अगर कोई मानता है कि केवल प्रार्थना से बीमारी ठीक हो सकती है और अपने बच्चे को डॉक्टर के पास नहीं ले जाता, तो उनका विश्वास बच्चे की जान की कीमत चुका सकता है।

जब हम विश्वास जैसे असंगत प्रक्रियाओं की महिमा करते हैं, तो हम एक दरवाजा खोलते हैं जिसके माध्यम से समाज में सभी प्रकार के खतरनाक और बेतुके विचार जड़ पकड़ लेते हैं। हम अच्छे विचारों को बुरे विचारों से अलग करने की क्षमता खो देते हैं क्योंकि हमारा मानक अब प्रमाण नहीं बल्कि विशिष्ट विश्वास की शक्ति है।

कल्पना कीजिए दो लोगों की : एक मानता है कि भगवान ने उसे एक पवित्र भूमि का वादा किया है , और दूसरा मानता है कि उसी भगवान ने उसे वही भूमि दी है। प्रत्येक के पास अपने दावे का समर्थन करने के लिए अपनी अपनी पवित्र पुस्तक है। वे इस विवाद को कैसे सुलझाएंगे ? तर्क और प्रमाण के माध्यम से नहीं , क्योंकि उनके विश्वास की प्रकृति तर्क से परे है। वे बातचीत नहीं कर सकते ; वे केवल अपने विश्वासों को दोहराते हैं , और जब संवाद समाप्त होता है , तो हिंसा शुरू होती है।

धर्म हमें विभिन्न विश्वासों के पिंजरे में बंद कर देता है , जिससे हम एक -दूसरे तक नहीं पहुँच सकते। यह हमें साझा वास्तविकता , तर्क के सामान्य आधार पर खड़े होने से रोकता है। परमाणु हथियारों वाली दुनिया में , ऐसी स्थिति अत्यधिक विनाशकारी हो सकती है।

क्या दुनिया की कई समस्याओं की जड़ यही विश्वास करने की आदत नहीं है बिना प्रमाण के ? क्या हम एक मानसिक संरचना का सम्मान कर रहे हैं जो हमें एक -दूसरे के खिलाफ खड़ा करती है ? लेकिन क्या विश्वास हमेशा इतना विनाशकारी रहा है , या क्या इतिहास ने कुछ ऐसा किया जिसने विश्वास को एक हथियार में बदल दिया ? कौन से घटनाएँ मानवता को विश्वास के नाम पर अमानवीय कार्य करने के लिए मजबूर करती हैं ?

इतिहास धर्म और विश्वास के नाम पर खून से सना हुआ है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है बल्कि एक कड़वा सच है। तर्क यह है कि धार्मिक हिंसा धर्म का एक विचलन या गलत व्याख्या नहीं है बल्कि कई धार्मिक ग्रंथों का सीधा और तार्किक परिणाम है।

जब आप लोगों को सिखाते हैं कि एक पुस्तक भगवान का अचूक शब्द है और यह कहती है कि जो आपके जैसा विश्वास

नहीं करता वह दुष्ट , पापी है और उसे दंडित किया जाना चाहिए , तो आप हिंसा के लिए एक वैचारिक आधार तैयार कर रहे हैं। यह सूखी घास के ढेर पर पेट्रोल डालने के समान है और उम्मीद करना कि कोई चिंगारी इसे नहीं जलाएगी।

आइए इतिहास में कुछ कदम पीछे चलते हैं। ईसाई धर्मयुद्ध या धार्मिक युद्धों को याद करें। ये सिर्फ ज़मीन के लिए संघर्ष नहीं थे ; वे पोप द्वारा आशीर्वादित पवित्र युद्ध थे।

हजारों सैनिक और आम लोग यह विश्वास करते हुए दूसरे देशों पर हमला करने के लिए निकल पड़े कि वे ईश्वर की इच्छा पूरी कर रहे हैं। वे

उनका मानना था कि काफिरों को मारना एक पुण्य कार्य है जो उन्हें स्वर्ग में प्रवेश देगा। उन्होंने अपने धर्म के नाम पर महिलाओं और बच्चों सहित अनगिनत निर्दोष लोगों का नरसंहार किया।

फिर स्पैनिश इनक्विजिशन पर विचार करें, जहां चर्च ने विधर्म के संदेह वाले लोगों को व्यवस्थित रूप से यातना दी और जिंदा जला दिया। उनका अपराध क्या था उनका अपराध चर्च की शिक्षाओं पर सवाल उठाना या अलग सोच रखना था। अपनी आत्माओं को बचाने के नाम पर उन्हें अत्यधिक पीड़ा सहकर यह स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया कि वे शैतान के उपासक थे।

ऐसी क्रूरता की प्रेरणा कहां से मिलती है यह प्रेरणा धार्मिक सिद्धांतों से मिलती है जो सिखाते हैं कि आस्था इतनी महत्वपूर्ण है कि इसके लिए जान लेना उचित है। और ये सिर्फ अतीत की बात नहीं है. 9/11 (2001) के हमलावर न तो मूर्ख थे और न ही पागल। अपने स्वयं के मानकों के अनुसार, वे तर्कसंगत रूप से कार्य कर रहे थे। वे वास्तव में विश्वास करते थे कि वे जिहाद में भाग ले रहे थे, कि मृत्यु उन्हें स्वर्ग में 72 कुंवारियों के साथ पुरस्कृत करेगी, और जिसे वे "बुराई" के रूप में देखते थे, जैसे कि अमेरिका को दंडित करके, वे अल्लाह को खुश कर रहे थे और ईश्वरीय इच्छा को पूरा कर रहे थे। उनका हर कदम उनकी धार्मिक आस्था से प्रेरित था। वे मृत्यु से नहीं डरते थे क्योंकि उनके विश्वास ने उन्हें सिखाया था कि मृत्यु बेहतर जीवन का प्रवेश द्वार है।

जब तक हम यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उनके विश्वास ने उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित किया, तब तक हम समस्या की जड़ तक कभी नहीं पहुंच पाएंगे। हम गरीबी, राजनीति या अमेरिकी विदेश नीति जैसे

बाहरी कारणों में उत्तर तलाशते रहेंगे , जबकि वास्तविक कारण उनके दिमाग में मौजूद विचारों में निहित है - वे विचार जिन्हें उनके विश्वास ने पवित्र और निर्विवाद बना दिया है।

क्या सभी धर्म समान रूप से खतरनाक हैं नहीं। कुछ धार्मिक ग्रंथ और सिद्धांत स्पष्ट रूप से दूसरों की तुलना में हिंसा और असहिष्णुता को अधिक प्रोत्साहित करते हैं। जिस धर्म की पवित्र पुस्तक दुश्मनों के प्रति प्रेम सिखाती है , उसे उसी पैमाने पर नहीं मापा जा सकता है , जिसकी पुस्तक अविश्वासियों के खिलाफ युद्ध का आह्वान करती है। इसका कोई मतलब नहीं है

धर्म "अच्छा" है और दूसरा "बुरा"; बल्कि, कुछ विचारधाराएँ आधुनिक, बहुसांस्कृतिक, वैश्विक दुनिया के साथ अधिक असंगत हैं। यह इस बात पर जोर देता है कि हमें विचारों का मूल्यांकन उनकी खूबियों और खामियों के आधार पर करना चाहिए, न कि इस पर कि कितने लोग उन पर विश्वास करते हैं या वे कितने पुराने हैं। जब कोई विचार हिंसा, घृणा और विभाजन को जन्म देता है, तो हमें केवल इसलिए उसका सम्मान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह धार्मिक है।

लेकिन यहां एक गहरा सवाल उठता है. कई लोग कहेंगे कि यह केवल चरमपंथियों पर लागू होता है। सामान्य शांतिपूर्ण धार्मिक लोग ऐसे नहीं होते. फिर भी, सामान्य उदारवादी विश्वासी अनजाने में चरमपंथियों के लिए ढाल के रूप में कार्य करते हैं। कैसे क्योंकि वे समाज में इस विचार को जीवित रखते हैं कि आस्था का सम्मान किया जाना चाहिए। वे ऐसा माहौल बनाते हैं जहां धर्म पर सवाल उठाना या आलोचना करना असभ्य या अनुचित माना जाता है। सम्मान के इस माहौल में चरमपंथी विचारधाराएं भी पनपती हैं, क्योंकि वे भी आस्था का ही एक रूप हैं. जब आप कहते हैं कि यीशु पानी पर चले थे या मूसा ने समुद्र को दो भागों में बाँट दिया था, तो आप अतार्किकता के लिए एक दरवाजा खुला छोड़ देते हैं। फिर, जब कोई दूसरा दावा करता है कि वह काफिरों को मारने में विश्वास करता है, तो आपके पास उसे गलत साबित करने के लिए कोई मजबूत तर्कसंगत आधार नहीं है, क्योंकि आपने खुद ही तर्क के नियमों को निलंबित कर दिया है।

तो क्या इसका मतलब यह है कि धर्म में कुछ भी अच्छा नहीं है क्या नैतिकता, समुदाय और जीवन में अर्थ - वे सभी सकारात्मक चीजें जो धर्म हमें देता है - एक धोखा है क्या हमें वास्तव में नैतिकता और मन की

शांति के लिए धर्म की आवश्यकता है

अब तक, हमने विश्वास के खतरनाक पहलुओं और इसके खूनी इतिहास पर नज़र डाली है। यह सब सुनकर, एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है: धर्म के अच्छे पहलुओं का क्या? क्या धर्म हमें नैतिक नहीं बनाता? क्या यह कठिन समय में हमें आराम नहीं देता और एक समुदाय से संबंध का एहसास नहीं कराता? नैतिकता, प्रेम, करुणा, और जीवन में अर्थ वास्तव में अच्छे चीजें हैं, लेकिन क्या हमें इनके लिए धर्म या भगवान की आवश्यकता है? तर्क यह नहीं है कि धर्म में कुछ भी अच्छा नहीं है। तर्क यह है कि धर्म में जो अच्छा है, वह स्वाभाविक रूप से नहीं है

धार्मिक। ये गुण और भावनाएँ मानव स्वभाव का हिस्सा हैं और इन्हें किसी भी अलौकिक विश्वास के बिना प्राप्त और विकसित किया जा सकता है। क्या हमें सही और गलत के बीच का अंतर सीखने के लिए एक प्राचीन पुस्तक की वास्तव में आवश्यकता है? क्या हमें एक भगवान के डर की आवश्यकता है, जो हमें नरक की धमकी देता है, ताकि हम दूसरों के प्रति अच्छा व्यवहार करें? बिल्कुल नहीं। क्या आप मानते हैं कि एक बच्चे को चोट पहुँचाना गलत है? आप कहेंगे हाँ, यह निश्चित रूप से गलत है। अब सवाल यह है कि यह गलत क्यों है? क्या यह गलत है क्योंकि एक पवित्र पुस्तक ऐसा कहती है, या क्योंकि यह बच्चे को अत्यधिक दर्द पहुँचाता है? एक तर्कसंगत और संवेदनशील व्यक्ति के लिए, उत्तर स्पष्ट है: यह गलत है क्योंकि हम पीड़ा को समझते हैं। हम सहानुभूति महसूस कर सकते हैं, और हम जानते हैं कि हम खुद ऐसी पीड़ा का अनुभव नहीं करना चाहेंगे। हमारी नैतिकता की नींव अन्य प्राणियों की भलाई की समझ में है, न कि किसी प्राचीन आदेश का पालन करने में। धर्म ने नैतिकता को अपहरण कर लिया है। इसने हमें विश्वास दिलाया है कि इसके बिना, हम अपनी नैतिक दिशा खो देंगे, जबकि सच्चाई यह है कि नैतिकता की नींव हमारे साझा मानव अनुभव और तर्क में है।

स्कैंडिनेविया (नॉर्वे, स्वीडन, डेनमार्क) मुख्यतः नास्तिक है, फिर भी यहाँ दुनिया का सबसे कम अपराध, सबसे अधिक समानता और मजबूत कल्याण है।

इसके विपरीत, अत्यधिक धार्मिक राज्य जैसे अफगानिस्तान, नाइजीरिया, भारत, पाकिस्तान, यमन और सऊदी अरब हिंसा, असमानता और दमन से चिह्नित हैं।

नैतिकता दिव्य नहीं है; यह मानव है। यह सहानुभूति, सहयोग और तर्क से उत्पन्न होती है।

वास्तव में , धार्मिक नैतिकता कभी -कभी अनैतिक हो सकती है। उदाहरण के लिए , जब एक धर्म समलैंगिकता को पाप के रूप में लेबल करता है या महिलाओं को पुरुषों से नीचा मानता है , तो यह पीड़ा और भेदभाव को बढ़ावा देता है , जो किसी भी तर्कसंगत नैतिक प्रणाली के खिलाफ है।

अब चलिए जीवन में आराम और अर्थ के बारे में बात करते हैं। कई लोग कहते हैं कि धर्म उन्हें जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की ताकत देता है। यह विश्वास कि एक उच्च शक्ति देख रही है या कि हम

मृत्यु के बाद प्रियजनों के साथ फिर से मिलेंगे, निश्चित रूप से आरामदायक हो सकता है। हाँ, यह आरामदायक हो सकता है। लेकिन क्या हमें आरामदायक झूठों पर निर्भर रहकर जीना चाहिए, या हमें कठोर वास्तविकता का सामना करना चाहिए? क्या एक डॉक्टर को कैंसर के मरीज से कहना चाहिए, “सब कुछ ठीक है, आप पूरी तरह से स्वस्थ हैं,” सिर्फ इसलिए कि यह सुनने में अच्छा लगता है? नहीं, यह क्रूरता होगी।

हमें वास्तविकता को उसकी पूरी भव्यता और जटिलता में स्वीकार करना सीखना चाहिए, बजाय इसके कि हम ब्रह्मांड के बारे में बचकानी, झूठी कहानियों से चिपके रहें। जीवन का अर्थ किसी बाहरी स्रोत से नहीं आता; हमें इसे खुद बनाना होगा। हमारे रिश्ते, हमारा काम, कला, विज्ञान, प्रकृति की सुंदरता, दूसरों की मदद करना—ये सभी एक अर्थपूर्ण जीवन के स्रोत हो सकते हैं, और इन्हें किसी अलौकिक विश्वास की आवश्यकता नहीं है।

समुदाय की भावना के बारे में क्या? चर्च, मस्जिदें और मंदिर लोगों को एक साथ लाते हैं और उन्हें एक belonging का एहसास कराते हैं। यह सच है। लेकिन क्या यह समुदाय बनाने का एकमात्र तरीका है? हम खेल क्लबों, पुस्तक क्लबों, चैरिटेबल संगठनों, वैज्ञानिक समाजों और अनगिनत अन्य तरीकों के माध्यम से मजबूत, अर्थपूर्ण समुदाय बना सकते हैं। धार्मिक समुदाय अक्सर “हम बनाम वे” मानसिकता पर काम करते हैं, लोगों को उनके विश्वास के आधार पर विभाजित करते हैं।

हमें अपनी तर्क, अपनी सहानुभूति और अपनी रचनात्मकता पर विश्वास करना चाहिए। एक बार जब हम समझ जाते हैं कि हम इन अच्छे चीजों के लिए धर्म पर निर्भर नहीं हैं, तो हम इसके खतरनाक और विभाजनकारी

पहलुओं को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं और उन्हें अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र महसूस कर सकते हैं। लेकिन इसमें सभी चीजें तर्क और साक्ष्य से संबंधित हैं। धर्म और विज्ञान के बीच हमेशा तनाव रहा है। क्या वे सह -अस्तित्व में रह सकते हैं , या यह एक बड़ा युद्ध है जहाँ केवल एक ही अंततः जीत सकता है ?

धर्म और विज्ञान सत्य तक पहुँचने के दो पूरी तरह से विपरीत और असंगत तरीके हैं। यह कोई मामूली असहमति नहीं है , बल्कि वास्तविकता की प्रकृति को समझने के लिए एक मौलिक संघर्ष है। एक ओर , विज्ञान है , जो आधारित है

अवलोकन, प्रयोग, साक्ष्य, और आत्म-सुधार की एक निरंतर प्रक्रिया। दूसरी ओर, धर्म है, जो रहस्यों, प्राचीन शास्त्रों, और विश्वासों पर आधारित है जिन्हें बदला नहीं जा सकता। दोनों के बीच कोई वास्तविक समझौता संभव नहीं है।

विज्ञान कैसे काम करता है, इस पर विचार करें। एक वैज्ञानिक एक परिकल्पना बनाता है और फिर इसे परीक्षण करने के लिए साक्ष्य इकट्ठा करता है। यदि साक्ष्य परिकल्पना का समर्थन करता है, तो इसे अस्थायी रूप से स्वीकार किया जाता है। यदि साक्ष्य इसके विपरीत है, तो परिकल्पना को संशोधित किया जाता है या पूरी तरह से त्याग दिया जाता है। विज्ञान में, कोई भी विचार या सिद्धांत पवित्र नहीं है। न्यूटन के नियमों को आइंस्टीन ने परिष्कृत किया। हर सिद्धांत लगातार चुनौती दी जाती है और बेहतर साक्ष्य के आधार पर बदला जा सकता है। विज्ञान की ताकत इसकी विनम्रता में है—यह स्वीकार करता है कि हमें सब कुछ नहीं पता है और हम गलत हो सकते हैं। विज्ञान का लक्ष्य ब्रह्मांड के बारे में विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करना है—ज्ञान जो काम करता है, जिससे हम टीके विकसित कर सकते हैं, अंतरिक्ष में अंतरिक्ष यान भेज सकते हैं, और इंटरनेट जैसी तकनीकों का निर्माण कर सकते हैं।

अब देखें कि धर्म कैसे काम करता है। धर्म एक निष्कर्ष से शुरू होता है—एक जो एक पवित्र पुस्तक में लिखा गया है या एक भविष्यवक्ता द्वारा व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए, ब्रह्मांड छह दिनों में बनाया गया था, या एक विशेष व्यक्ति भगवान का पुत्र था। इन निष्कर्षों को निरपेक्ष सत्य माना जाता है। हमें नहीं पता कि अंतिम सत्य क्या है, और यह पूरी तरह से संभव है कि हम कभी भी इसे न जानें।

मानव ज्ञान की इस मौलिक सीमा को देखते हुए, सबसे बौद्धिक रूप से ईमानदार प्रतिक्रिया यह है कि अनिश्चितता को स्वीकार करें, न कि आरामदायक कहानियों से अंतराल को भरें। "हम नहीं जानते" को स्वीकार करना एक अप्रमाणित कथा में विश्वास करने की तुलना में कहीं अधिक साहस और परिपक्वता की आवश्यकता है। जब कोई निर्णायक सबूत मौजूद नहीं होता है, तो एक विश्वास का आविष्कार करना या विरासत में लेना बुद्धिमानी नहीं है—यह अनिश्चितता से भागना है।

उन्हें परीक्षण या चुनौती देने की अनुमति नहीं है। यदि ऐसे सबूत सामने आते हैं जो इन विश्वासों का खंडन करते हैं—जैसे जीवाश्म रिकॉर्ड या आनुवंशिक

विकास का समर्थन करने वाले अध्ययन —विश्वासी साक्ष्य को अस्वीकार करते हैं बजाय इसके कि वे अपने विश्वास को छोड़ दें। धर्म का लक्ष्य विश्वास को बनाए रखना है, चाहे कुछ भी हो। यह एक मानसिक स्थिति है जो कहती है, "मुझे परवाह नहीं है कि साक्ष्य क्या कहता है; मैं फिर भी इस पर विश्वास करूंगा।"

विज्ञान हमें दुनिया के बारे में अपने विचारों को बदलने के लिए प्रोत्साहित करता है, जबकि विश्वास हमें वास्तविकता से मुंह मोड़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। कई लोग तर्क करते हैं कि विज्ञान और धर्म अलग-अलग क्षेत्रों में हैं: विज्ञान "कैसे" सवालों का उत्तर देता है—कैसे ब्रह्मांड काम करता है—जबकि धर्म "क्यों" सवालों का उत्तर देता है—हमारा उद्देश्य क्या है। इस विचार को गैर-ओवरलैपिंग मैजिस्टिरिया (NOMA) कहा जाता है। लेकिन यह एक गलत और कृत्रिम विभाजन है। धर्म केवल "क्यों" सवालों का उत्तर देने का दावा नहीं करता; यह यह भी कई दावे करता है कि "कैसे" दुनिया काम करती है।

कुंवारी जन्म, पानी पर चलना, मृतकों को जीवित करना, प्रार्थनाओं का उत्तर—ये सभी भौतिक दुनिया के बारे में तथ्यात्मक दावे हैं। ये ऐसे दावे हैं जिन्हें वैज्ञानिक रूप से परीक्षण किया जा सकता है, और जब भी ऐसे दावों का परीक्षण किया जाता है, तो वे लगातार गलत पाए जाते हैं। धर्म लगातार विज्ञान के क्षेत्र में घुसपैठ करता है, और जब विज्ञान इसे गलत साबित करता है, तो यह उपमा या आध्यात्मिक सत्य की आड़ में पीछे हट जाता है।

इस महाकाव्य संघर्ष का सबसे स्पष्ट उदाहरण विकास के सिद्धांत पर बहस है। विज्ञान के पास इस बात के पहाड़ों के सबूत हैं कि जीवन लाखों वर्षों

में धीरे-धीरे विकसित हुआ। हमारे पास जीवाश्म, डीएनए के सबूत हैं, और हम यहां तक कि बैक्टीरिया और वायरस को अपनी आंखों के सामने विकसित होते हुए देख सकते हैं। दूसरी ओर, कुछ धार्मिक विश्वास यह दावा करते हैं कि मनुष्यों को उनके तथाकथित धार्मिक भगवान द्वारा उनके वर्तमान रूप में सीधे बनाया गया था। दोनों दावे एक साथ सत्य नहीं हो सकते। या तो हम विकसित हुए, या हमें बनाया गया।

जब विश्वास करने वाले विकास को अस्वीकार करते हैं, तो वे केवल एक वैज्ञानिक तथ्य को अस्वीकार नहीं कर रहे हैं—वे तर्क और साक्ष्य की पूरी प्रक्रिया को अस्वीकार कर रहे हैं। वे मूल रूप से कह रहे हैं कि उनकी प्राचीन कहानी है

हमारे द्वारा खोजे गए हर सबूत से अधिक महत्वपूर्ण है। यह मान लेना कि जिस धर्म में कोई पैदा होता है, वह अकेला अंतिम और पूर्ण सत्य रखता है—जबकि अन्य सभी केवल गलत हैं—न केवल एक निर्णय की गलती है बल्कि एक गहन बौद्धिक घमंड भी है। ऐसा विश्वास पूरी तरह से जन्म के संयोग पर निर्भर करता है, न कि तर्क, सबूत, या आलोचनात्मक जांच पर। यदि सत्य वास्तव में पूर्ण और स्व-स्पष्ट होता, तो यह भूगोल, परिवार, या ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होता।

विरासत में मिली विश्वास को अचूक सत्य के रूप में मानना जटिल मानव परंपराओं को जनजातीय वफादारी में घटित कर देता है और गंभीर दार्शनिक प्रश्नों को अंधी निष्ठा में बदल देता है।

आलोचना

राष्ट्रीयता

कई विचारों और संस्थानों में से जिन्होंने मानव इतिहास में सबसे अधिक रक्तपात, विभाजन, और कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न की हैं, 'राष्ट्रीयता' शीर्ष पर है। आज भी, यह विचार अरबों लोगों की चेतना को आकार देता है। लेकिन क्या राष्ट्रीयता वास्तव में मानव प्रगति के लिए एक शक्ति है? या यह एक मिथक है जिसे हमने अंधाधुंध स्वीकार किया है—जिसकी कीमत हम युद्धों, विभाजन, और नफरत में चुकाते रहते हैं?

सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में, कोई राष्ट्र और कोई सीमाएँ नहीं थीं। छोटे जनजातियाँ, कबीले, और गाँव मूल सामाजिक इकाइयाँ थीं। पहचान परिवार, रिश्तेदारी, या स्थानीय समुदाय में निहित थी।

'कृषि क्रांति' और स्थायी बस्तियों के साथ, समाज बड़े और अधिक जटिल हो गए। यहाँ से नगर, नगर-राज्य, और साम्राज्य आए। लेकिन जिस राष्ट्र को हम समझते हैं, वह एक आधुनिक आविष्कार है—16वीं-17वीं सदी के यूरोप में औद्योगिकीकरण, मुद्रण तकनीक, और आधुनिक प्रशासन के उदय के साथ जन्मा।

राष्ट्रीयता ने पहली बार भाषा और संस्कृति को राजनीतिक शक्ति से जोड़ा। "एक भाषा, एक लोग, एक राष्ट्र" यूरोप में एक नारा बन गया। 18वीं और 19वीं सदी में, राष्ट्रीयता अक्सर साम्राज्यों के खिलाफ एक शक्ति के रूप में कार्य करती थी: इटली और जर्मनी इसके ध्वज के तहत एकीकृत हुए, और दुनिया भर में उपनिवेश स्वतंत्रता की कल्पना करने लगे। फिर भी, वही विचार जल्दी ही जातीय श्रेष्ठता, नस्लीय नफरत, और साम्राज्यवादी युद्धों के सिद्धांत में बदल गया।

20 वीं सदी में राष्ट्रीयता अपने सबसे चरम रूप में फासीवाद और नाजीवाद में देखी गई। हिटलर ने "आर्यन राष्ट्र" का मिथक बनाया, जिसने लाखों यहूदियों, रोमा, और अन्य का विनाश सही ठहराया। राष्ट्रीयता ने द्वितीय विश्व युद्ध को प्रेरित किया, जो मानव इतिहास का सबसे घातक संघर्ष था। इसी समय, भारत में राष्ट्रीयतावादी राजनीति ने विभाजन को जन्म दिया, जिससे लाखों लोग बेघर हुए और सैकड़ों हजारों की हत्या हुई।

आज, 21 वीं सदी में, जब मानवता जलवायु परिवर्तन, महामारी, और तकनीकी आपसी निर्भरता जैसी वैश्विक चुनौतियों का सामना कर रही है, राष्ट्रीयता अभी भी लोगों को "हम बनाम वे" के जाल में धकेलती है।

मानव मस्तिष्क समूह पहचान की गहरी प्रवृत्ति रखता है। प्रारंभिक जनजातियों में, एक सामूहिकता का हिस्सा होना जीवित रहने का अर्थ था। हम उन लोगों के साथ सहज महसूस करते हैं जो हमारे समान होते हैं और जो अलग होते हैं, उनके प्रति संदेह करते हैं। यह "आंतरिक समूह बनाम बाहरी समूह" पूर्वाग्रह राष्ट्रीयता की मनोवैज्ञानिक जड़ है।

राष्ट्रीयता लोगों को अर्थ और गर्व भी देती है। "मैं इस राष्ट्र का नागरिक हूँ" कहना एक व्यक्ति को कुछ विशाल, शक्तिशाली, और महिमामय का हिस्सा महसूस कराता है। अभिजात वर्ग और शासक वर्ग इस भावना को बढ़ाते हैं, इसका उपयोग व्यवस्था बनाए रखने और शक्ति को सही ठहराने के लिए करते हैं। सामाजिक मनोविज्ञान इसे सामाजिक पहचान सिद्धांत के माध्यम से समझाता है:

लोग अपनी आत्म-छवि का निर्माण दूसरों की तुलना करके करते हैं। यदि मेरा राष्ट्र महान है, तो मैं भी महान हूं। यही कारण है कि लोग झंडों, गानों या सेनाओं के

प्रति इतनी भावुकता दिखाते हैं —यहां तक कि जब उनके दैनिक जीवन को गरीबी, अन्याय या शोषण द्वारा आकार दिया जाता है।

राष्ट्रीयता केवल इतिहास और राजनीति से नहीं जन्म लेती; यह संस्कृति, शिक्षा और जन संचार के माध्यम से भी सावधानीपूर्वक निर्मित होती है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय पहचान के साथ नहीं जन्म लेते। एक बच्चा बिना सीमाओं, झंडों या गानों के ज्ञान के दुनिया में प्रवेश करता है। इन प्रतीकों और भावनाओं को सिखाना, दोहराना और मन में स्थापित करना आवश्यक है।

राष्ट्रीयता को सामान्यीकृत करने के लिए जो तंत्र काम करते हैं, वे प्रचार और जन मनोविज्ञान हैं। स्कूल, जन मीडिया और सिनेमा इस प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं, भावनात्मक प्रशिक्षण का निर्माण करते हैं जो राष्ट्र के प्रति वफादारी को स्वाभाविक, अन questionable और यहां तक कि पवित्र बनाता है।

औपचारिक शिक्षा के पहले वर्षों से, स्कूल राष्ट्रीय पहचान के उत्पादन के लिए कारखानों के रूप में कार्य करते हैं। इतिहास की पाठ्यपुस्तकें वस्तुनिष्ठ रिकॉर्ड के रूप में नहीं लिखी जातीं, बल्कि देशभक्ति की कथाओं के रूप में। विजय का जश्न मनाया जाता है, हार को नैतिक विजय के रूप में फिर से व्याख्यायित किया जाता है, और जटिलताओं को मिटा दिया जाता है ताकि "हम बनाम वे" का एक स्पष्ट चित्र बनाया जा सके।

यह प्रक्रिया आकस्मिक नहीं है। राज्य जानबूझकर पाठ्यक्रमों को डिजाइन करते हैं ताकि युवा मनों को आकार दिया जा सके। बच्चों को यह सिखाकर कि उनका राष्ट्र एक शानदार अतीत, एक अद्वितीय भाग्य और पवित्र प्रतीक रखता है, स्कूल ऐसे नागरिकों का निर्माण करते हैं जो राष्ट्रीयता को अपनी पहचान का हिस्सा मानते हैं। राष्ट्र पर सवाल उठाना असंभव हो जाता है क्योंकि कथा को सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, न कि विचारधारा के रूप में। इनग्रुप-आउटग्रुप मनोविज्ञान को मजबूत किया जाता है क्योंकि बच्चे राष्ट्रीय नायकों की प्रशंसा करना सीखते हैं जबकि बाहरी लोगों पर संदेह या दानवकरण करते हैं। इस प्रकार, कक्षा राष्ट्रीयतावादी प्रचार का पहला स्थल बन जाती है।

जबकि स्कूल बचपन में राष्ट्रीयता की स्थापना

करते हैं , जन मीडिया इसे वयस्कता में लगातार मजबूत करता है। समाचार पत्र , रेडियो , टेलीविजन और डिजिटल प्लेटफार्म लगातार भाषा और चित्रण के माध्यम से राष्ट्र के विचार को पुन : उत्पन्न करते हैं। शीर्षक राष्ट्रीय विजय या अपमान की घोषणा करते हैं : "भारत ने क्रिकेट में पाकिस्तान को हराया ," "चीन ने चंद्रमा मिशन शुरू किया ," "अमेरिका नवाचार में दुनिया का नेतृत्व करता है। " यहां तक कि तटस्थ घटनाओं को राष्ट्रीय फ्रेम के माध्यम से वर्णित किया जाता है , जैसे कि हर उपलब्धि या विफलता को राष्ट्रीय गर्व के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

मीडिया भी दुश्मनों का निर्माण करता है। समाचार आउटलेट "विदेशी प्रतिद्वंद्वियों" से खतरों को बढ़ाते हैं, संघर्षों को राष्ट्रीयता के संदर्भ में ढालते हैं। युद्ध के दौरान, पत्रकार उत्साही के रूप में कार्य करते हैं, "हमारे सैनिकों" की महिमा करते हैं जबकि दूसरी तरफ को दानवित करते हैं। शांति के समय, आर्थिक प्रतिस्पर्धा को राष्ट्रों के बीच संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, न कि कंपनियों या प्रणालियों के बीच। दोहराव के माध्यम से, नागरिक विश्व घटनाओं को राष्ट्रों के बीच प्रतियोगिताओं के रूप में व्याख्यायित करना सीखते हैं।

प्रचार हमेशा स्पष्ट झूठ के रूप में नहीं होता। अधिकतर, यह चयन और जोर देने के माध्यम से काम करता है। राष्ट्र की महिमा करने वाली कहानियों को उजागर किया जाता है; जो इसे प्रश्न करते हैं, उन्हें दबा दिया जाता है। विफलताओं को अस्थायी बाधाओं के रूप में ढाला जाता है, जबकि सफलताओं को राष्ट्रीय महानता के प्रमाण के रूप में बढ़ा दिया जाता है। समय के साथ, देशभक्ति की खबरों का निरंतर पृष्ठभूमि शोर राष्ट्रीयता को वास्तविकता को समझने के लिए डिफ़ॉल्ट तरीके के रूप में सामान्यीकृत करता है।

सिनेमा हमेशा मनोरंजन से अधिक रहा है; यह राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए सबसे प्रभावी सपनों की मशीनों में से एक रहा है। पाठ्यपुस्तकों या भाषणों के विपरीत, जिन्हें सचेत ध्यान की आवश्यकता होती है, सिनेमा सीधे इंद्रियों और भावनाओं पर काम करता है। इसकी छवियां, ध्वनियां और कथाएं तर्कसंगत विश्लेषण को बायपास करती हैं और अवचेतन में डूब जाती हैं, शक्तिशाली भावनात्मक संघों का उत्पादन करती हैं। सिनेमा के माध्यम से, राष्ट्रीयता केवल

सोची नहीं जाती —यह शरीर में महसूस की जाती है।

प्रचार फैलाने में सिनेमा की भूमिका अच्छी तरह से प्रलेखित है। नाज़ी जर्मनी में, लेनी रिफेनस्टाल की "ट्रायंफ ऑफ़ द विल" ने हिटलर की रैलियों को सिनेमाई प्रदर्शन में बदल दिया, जिससे फासीवाद केवल वैध नहीं बल्कि भव्य और अपरिहार्य प्रतीत हुआ। सोवियत संघ में, समाजवादी यथार्थवाद का सिद्धांत सिनेमा को श्रमिकों, सैनिकों और "मातृभूमि" की महिमा करने के लिए एक उपकरण में बदल देता है, सामूहिक शक्ति और बलिदान का मिथक बुनता है। अमेरिका में, हॉलीवुड ने लंबे समय से युद्ध महाकाव्यों और सैन्य ब्लॉकबस्टर्स के माध्यम से अमेरिकी राष्ट्रीयता को मजबूत किया है —टॉप गन, सेविंग

प्राइवेट रयान , और अनगिनत अन्य —जहाँ अमेरिका स्वतंत्रता और न्याय का शाश्वत रक्षक के रूप में प्रकट होता है। दर्शक थिएटर से केवल मनोरंजन प्राप्त करके नहीं बल्कि राष्ट्रीय निष्ठा में पुनः पुष्टि के साथ बाहर निकलते हैं।

भारत में , सिनेमा एक विशेष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि फिल्म देश में सबसे सुलभ और प्रभावशाली सांस्कृतिक माध्यमों में से एक है। देश के लिए बलिदान की महिमा गाने वाले देशभक्ति युद्ध नाटकों जैसे कि बॉर्डर या उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक के साथ , एक परेशान करने वाला नया रुझान उभरा है : ऐसे प्रचार फिल्में जानबूझकर बनाई जा रही हैं जो इतिहास को विकृत करती हैं और पूरे समुदायों को दानव के रूप में पेश करती हैं।

कुछ फिल्म निर्माताओं —विशेष रूप से विवेक अग्निहोत्री , जो द कश्मीर फाइल्स और द बंगाल फाइल्स के निर्देशक हैं —ने सिनेमा को प्रचार का एक हथियार बना दिया है , झूठे या बढ़ा -चढ़ा कर प्रस्तुत किए गए कथानकों के माध्यम से। मुसलमानों को विशेष रूप से लगभग पूरी तरह से खलनायकों के रूप में चित्रित किया गया है , जबकि हिंदुओं को अत्याचारों के निरंतर पीड़ितों के रूप में दर्शाया गया है।

यह प्रकार का सिनेमा केवल राष्ट्रवाद की महिमा नहीं गाता ; यह सामुदायिक नफरत का निर्माण करता है। एक समुदाय को शाश्वत रूप से बुरा और दूसरे को शाश्वत रूप से पीड़ित के रूप में प्रस्तुत करके , ऐसे फिल्में सामाजिक ताने -बाने को विषाक्त कर देती हैं। साझा मानव गरिमा के माध्यम से नागरिकों को एकजुट करने के बजाय , वे विभाजन को गहरा करती हैं , पड़ोसियों के बीच संदेह और शत्रुता पैदा करती हैं। इससे भी बुरा , ये फिल्में कोई हाशिए पर की गई

उत्पादन नहीं हैं ; इन्हें राजनीतिक नेताओं और पार्टियों द्वारा खुलकर समर्थन दिया जाता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने स्वयं द कश्मीर फाइल्स की प्रशंसा की , जो एक पक्षीय , सामुदायिक कथा को बढ़ावा देने वाली फिल्म की आधिकारिक स्वीकृति का संकेत है। सत्तारूढ़ पार्टी , भाजपा , अक्सर ऐसे कार्यों को प्रोत्साहित और बढ़ावा देती है क्योंकि ये इसके चुनावी रणनीति के लिए काम करते हैं : डर और गुस्सा वोटों को जुटाने के लिए शक्तिशाली उपकरण हो सकते हैं।

सिनेमा की प्रभावशीलता इस बात में निहित है कि यह तथ्य और कल्पना के बीच की रेखा को धुंधला कर देता है। एक फिल्म को एक भावनात्मक

अनुभव ; दर्शक पीड़ितों के साथ रोते हैं, खलनायकों पर गुस्सा करते हैं, और कल्पित न्याय में catharsis महसूस करते हैं। लेकिन जब खलनायकों को एक वास्तविक धार्मिक समुदाय के सदस्यों के रूप में लगातार चित्रित किया जाता है, तो थिएटर में उत्पन्न भावनाएँ वास्तविक जीवन में बह जाती हैं। नफरत, जो पहले कल्पना के रूप में मनोरंजन की गई थी, एक राजनीतिक वास्तविकता बन जाती है। यही कारण है कि प्रचार फिल्में इतनी खतरनाक होती हैं: वे दर्शकों को यह महसूस किए बिना कट्टर बना सकती हैं।

प्रतीक इस प्रभाव को बढ़ाते हैं। एक झंडा धीमी गति में लहराता हुआ, सैनिक नाटकीय संगीत के साथ मार्च करते हुए, एक माँ अपने शहीद बेटे के लिए रोती हुई —ये तटस्थ छवियाँ नहीं हैं। ये सावधानीपूर्वक निर्मित भावनात्मक ट्रिगर हैं। पीड़ितता और प्रतिशोध की कथाओं के साथ मिलकर, ये साधारण नागरिकों को एक काल्पनिक राष्ट्र के प्रति उत्साही रक्षक में बदल देते हैं जो घेराबंदी में है। "पवित्र मातृभूमि" को खलनायकों द्वारा उल्लंघन किया गया के रूप में चित्रित किया जाता है, और दर्शकों को इस आक्रोश में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाता है। ऐसी सिनेमाई स्थिति राज्य के प्रति अंधी निष्ठा को न केवल स्वाभाविक बल्कि नैतिक भी प्रतीत कराती है।

इस सिनेमाई प्रचार का खतरा केवल राजनीति तक सीमित नहीं है; यह समाज की नींव को भी कमजोर करता है। जब पूरे समुदायों को दानव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो सामाजिक विश्वास टूट जाता है। हिंसा को सही ठहराना आसान हो जाता है, क्योंकि दुश्मन को पहले ही स्क्रीन पर अमानवीकरण किया जा चुका है। जब नेता ऐसे फिल्मों का समर्थन करते हैं,

तो वे पूर्वाग्रह को वैधता प्रदान करते हैं, और कट्टरता को देशभक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह एकता या शक्ति की ओर नहीं, बल्कि अंतहीन विभाजन और हिंसा की ओर ले जाने वाला रास्ता है।

इसलिए, नागरिकों को यह समझना चाहिए कि सिनेमा भावनाओं को कैसे प्रभावित करता है। फिल्मों को कला और कहानी कहने के रूप में सराहा जाना चाहिए, लेकिन दर्शकों को पूछना चाहिए: किसकी कहानी बताई जा रही है, और किसकी चुप कराई जा रही है? कौन सी भावनाएँ उत्तेजित की जा रही हैं, और किसके लाभ के लिए? सच्ची राष्ट्रीय शक्ति अल्पसंख्यकों को दुष्ट बनाने या इतिहास को फिर से लिखने में नहीं है, बल्कि वास्तविकता का सामना करने में है।

ईमानदारी के साथ और सभी के लिए न्याय की कोशिश करते हुए। सिनेमा में सहानुभूति और एकजुटता को प्रेरित करने की शक्ति होती है, लेकिन प्रचारकों के हाथों में, यह विभाजन का एक हथियार बन जाता है।

यदि समाज आलोचनात्मक नहीं रहता है, तो प्रचार फिल्में नशे की तरह फैलती रहेंगी, नफरत को बढ़ावा देते हुए वास्तविक मुद्दों जैसे गरीबी, असमानता, बेरोजगारी और पारिस्थितिकी संकट से ध्यान भटकाएंगी। जैसे नागरिकों को राष्ट्रवादी गर्व के नशे की लत से बचना चाहिए, वैसे ही उन्हें सिनेमाई प्रचार के आकर्षण से भी बचना चाहिए। एक परिपक्व समाज मनोरंजन को सत्य के साथ भ्रमित नहीं करता, न ही यह नेताओं को फिल्मों का राजनीतिक लाभ के लिए उपकरण के रूप में उपयोग करने की अनुमति देता है। केवल जागरूकता और आलोचनात्मक सोच के माध्यम से सिनेमा अपने उच्चतम उद्देश्य की सेवा कर सकता है: मिथकों की महिमा नहीं, बल्कि वास्तविकता की रोशनी।

स्कूलों, मीडिया और सिनेमा को एकजुट करने वाली बात यह है कि वे भावनात्मक पुनरावृत्ति पर निर्भर करते हैं। राष्ट्रीय प्रतीक—झंडे, गान, स्मारक—को इस हद तक दोहराया जाता है कि वे स्वचालित प्रतिक्रियाओं के लिए ट्रिगर बन जाते हैं। झंडा देखना दिल की धड़कन तेज कर सकता है, गान सुनना आँसू ला सकता है, और सैनिकों की परेड देखना गर्व को जगाता है। ये प्राकृतिक भावनाएँ नहीं हैं; ये ऐसी प्रतिक्रियाएँ हैं जो वर्षों के संपर्क के माध्यम से विकसित होती हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने राष्ट्रवाद की तुलना धार्मिक भक्ति से की है। जैसे अनुष्ठान, भजन और पवित्र प्रतीक एक विश्वास के प्रति वफादारी पैदा करते हैं, राष्ट्रीय अनुष्ठान राज्य के प्रति

वफादारी उत्पन्न करते हैं। अंतर यह है कि राष्ट्रवाद अक्सर अदृश्य होता है , इसे विश्वास के रूप में नहीं बल्कि वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लोग कहते हैं , "मैं भारतीय हूँ " या "मैं अमेरिकी हूँ " न कि एक राय के रूप में बल्कि एक तथ्य के रूप में , यह भूलते हुए कि "भारत " या "अमेरिका " की श्रेणियाँ ऐतिहासिक निर्माण हैं। प्रचार तब सबसे अच्छा काम करता है जब यह खुद को छिपा लेता है।

राष्ट्रीयतावादी प्रचार की प्रतिभा यह है कि यह राष्ट्रवाद को सामान्य , यहां तक कि प्राकृतिक दिखाता है। लोग मानते हैं कि अपने देश से प्यार करना अपने परिवार से प्यार करने जितना स्पष्ट है। वे

भूल जाते हैं कि राष्ट्र एक काल्पनिक समुदाय है, जैविक वास्तविकता नहीं। स्कूल, मीडिया और सिनेमा इस सामान्यता का भ्रम पैदा करते हैं, राष्ट्रवाद को रोजमर्रा की जिंदगी में समाहित करके।

खेल आयोजनों पर विचार करें। अंतरराष्ट्रीय मैचों को राष्ट्रों की लड़ाइयों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें प्रशंसक झंडे लहराते हैं और गान गाते हैं। जीत की खुशी और हार का दर्द राष्ट्र के सामूहिक भावनाओं के रूप में अनुभव किया जाता है। फिर भी खिलाड़ी व्यक्ति होते हैं, टीमें कंपनियाँ होती हैं, और यह आयोजन वैश्विक संस्थानों द्वारा आयोजित किया जाता है। केवल प्रचार इसे ऐसा दिखाता है जैसे राष्ट्र का भाग्य दांव पर हो।

उपभोक्ता वस्तुओं के मामले में भी यही सच है। "अमेरिकी खरीदें" या "भारत में बनाएं" जैसे अभियान साधारण खरीदारी को देशभक्ति के कार्यों में बदल देते हैं। एक कार या स्मार्टफोन राष्ट्रीय गर्व का प्रतीक बन जाता है। विज्ञापन एजेंसियाँ जानबूझकर उत्पादों को बेचने के लिए राष्ट्रीय प्रतीकों का उपयोग करती हैं, उपभोग को राजनीतिक वफादारी में बदल देती हैं।

प्रचार के माध्यम से राष्ट्रवाद का सामान्यीकरण खतरनाक परिणाम लाता है। जब युद्ध, निगरानी या असमानता को देशभक्ति की आवश्यकताओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो नागरिक इन पर सवाल उठाने की संभावना कम रखते हैं। असहमति रखने वालों को देशद्रोही के रूप में चिह्नित किया जाता है, क्योंकि राष्ट्र के प्रति वफादारी को नैतिकता के साथ समानांतर रखा जाता है। इस प्रकार, प्रचार आलोचनात्मक सोच को दबाता है और एकरूपता को लागू

करता है।

इसके अलावा, प्रचार बाहरी लोगों के प्रति शत्रुता को बढ़ाता है। जब मीडिया और सिनेमा लगातार विदेशी राष्ट्रों को खतरे के रूप में चित्रित करते हैं, तो नागरिक संदेह और नफरत को आत्मसात कर लेते हैं। इससे संघर्ष की संभावना बढ़ जाती है, क्योंकि नेता आसानी से राष्ट्रीय गर्व को अपील करके आक्रामकता के लिए समर्थन जुटा सकते हैं।

अंत में, प्रचार वास्तविक मुद्दों से ध्यान भटकाता है। झंडों, सीमाओं और काल्पनिक दुश्मनों के प्रति जुनूनी नागरिक अक्सर गरीबी, असमानता और पारिस्थितिकी संकट की अनदेखी करते हैं। नेता इस स्थिति का लाभ उठाते हैं, अपने विफलताओं की आलोचना को मोड़ने के लिए राष्ट्रवादी रेटोरिक का उपयोग करते हैं।

प्रचार की भावनात्मक शक्ति भ्रष्टाचार और अन्याय के लिए एक ढाल बन जाती है।

प्रचार के भूमिका को समझने से यह पता चलता है कि राष्ट्रवाद स्वाभाविक नहीं बल्कि कृत्रिम है। यह दिखाता है कि राष्ट्र के प्रति वफादारी एक जैविक प्रवृत्ति नहीं बल्कि एक शर्तबद्ध प्रतिक्रिया है।

राष्ट्रीयता ने "हम बनाम वे" को संस्थागत किया। इसने अल्पसंख्यकों को हाशिए पर डाल दिया, नस्लवाद और जातीय सफाई को सही ठहराया, और युद्धों को "देशभक्ति के पवित्र क्रूसेड" में बदल दिया। इसने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, और नरसंहार के लिए नैतिक ढाल प्रदान की।

विश्व युद्ध I और II – राष्ट्रीयता की भावना और साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं ने लाखों लोगों की जान ली।

भारत का विभाजन (1947) – धार्मिक-राष्ट्रीय पहचान ने समुदायों को तोड़ दिया, जिससे नरसंहार और लाखों लोगों का विस्थापन हुआ।

बाल्कन युद्ध (1990 के दशक) – जातीय राष्ट्रीयता ने यूरोप के दिल में नरसंहार को जन्म दिया।

रवांडा नरसंहार (1994) – हुतू बनाम तुत्सी पहचान, राजनीतिक राष्ट्रीयता द्वारा भड़काई गई, ने सामूहिक हत्या को unleashed किया।

आधुनिक मामले – ट्रम्प का "अमेरिका पहले," मोदी का हिंदू राष्ट्रीयता, ब्रेक्सिट का "ब्रिटिश संप्रभुता," और पुतिन का "रूसी महिमा" सभी वैश्विक सहयोग को कमजोर करते हैं जबकि आंतरिक नफरत और बाहरी संघर्ष को बढ़ावा देते हैं।

आज की दुनिया में, राष्ट्रीयता के पास कोई तर्कसंगत औचित्य नहीं बचा है।

1. वैश्विक समस्याएं वैश्विक समाधान की मांग करती हैं। जलवायु संकट, महामारी, परमाणु जोखिम—इनका समाधान सीमाओं के भीतर नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता सहयोग को बाधित करती है।

2. आर्थिक आपसी निर्भरता। आपूर्ति श्रृंखलाएं, व्यापार, और प्रौद्योगिकी गहराई से आपस में जुड़ी हुई हैं। राष्ट्रीयता इन्हें बाधित करती है।

3. नैतिक दृष्टिकोण। किसी मानव जीवन को "दूसरे राष्ट्र" से संबंधित होने के कारण कम मूल्यवान क्यों माना जाना चाहिए? यह नैतिक रूप से absurd है।

4. कृत्रिम सीमाएँ। राष्ट्रीय सीमाएँ इतिहास की दुर्घटनाएँ हैं, प्राकृतिक वास्तविकताएँ नहीं। ये मानवता को विभाजित करती हैं।

5. शक्ति का एक हथियार। राष्ट्रवाद का हमेशा से उपयोग अभिजात वर्ग द्वारा युद्ध, प्रचार और शोषण को सही ठहराने के लिए किया गया है।

राष्ट्रवाद को समझने के सबसे प्रभावशाली तरीकों में से एक इसे केवल एक विचारधारा के रूप में नहीं, बल्कि एक प्रकार की लत के रूप में देखना है। शराब, जुआ, या ड्रग्स की तरह, राष्ट्रवाद शक्तिशाली भावनात्मक उच्चता उत्पन्न करता है जबकि दीर्घकालिक हानि पहुँचाता है। यह लोगों को belonging, शक्ति, और उद्देश्य का एक नशे जैसा अनुभव देता है, लेकिन ये भावनाएँ अस्थायी, अस्थिर, और अक्सर विनाशकारी होती हैं। नेता इस नशे की गुणवत्ता का उपयोग जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए करते हैं, जबकि नागरिक बार-बार राष्ट्रीय गर्व के भावनात्मक "फिक्स" की ओर लौटते हैं, भले ही यह उनकी अपनी भलाई को नुकसान पहुँचाए।

एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, राष्ट्रीय गर्व मस्तिष्क के पुरस्कार प्रणाली को उसी तरह सक्रिय करता है जैसे नशे की सामग्री। जब लोग अपने झंडे को लहराते हुए देखते हैं, अपने गान को सुनते हैं, या अपने एथलीटों को प्रतियोगिता जीतते हुए देखते हैं, तो मस्तिष्क डोपामाइन और ऑक्सीटोसिन छोड़ता है—जो खुशी, बंधन, और पुरस्कार से जुड़े रसायन हैं। ये रसायन एक प्रकार की उत्साह और एकता का अनुभव उत्पन्न करते हैं, जैसे शराब का नशा या जुए का रोमांच।

यह समझाता है कि खेलों की जीत या सैन्य परेड इतनी तीव्र भावनाएँ क्यों उत्पन्न करती हैं। लोग ऊँचा

महसूस करते हैं, गर्वित होते हैं, यहाँ तक कि आँसू भी बहाते हैं, जैसे उन्होंने व्यक्तिगत रूप से कुछ हासिल किया हो। वास्तव में, यह उपलब्धि उन व्यक्तियों या संस्थानों की है जो साधारण नागरिक से बहुत दूर हैं। लेकिन राष्ट्रवादी ढांचा इन दूर के घटनाओं को व्यक्तिगत विजय में बदल देता है। मस्तिष्क अपने स्वयं के उपलब्धि और राष्ट्र की प्रतीकात्मक विजय के बीच अंतर नहीं कर सकता। परिणाम एक शक्तिशाली लेकिन भ्रांतिपूर्ण उच्चता है।

यदि राष्ट्रवाद एक लत है, तो नेता डीलर के रूप में कार्य करते हैं। वे भावनात्मक उच्चता प्रदान करते हैं—सैन्य परेड, उत्साही भाषण, देशभक्ति फिल्में—जबकि नागरिकों की निर्भरता से लाभ उठाते हैं।

राष्ट्रीय गर्व पर जनसंख्या को निर्भर रखकर , नेता भ्रष्टाचार से ध्यान भटकाने , शक्ति को मजबूत करने , और उन नीतियों को सही ठहराने में सक्षम होते हैं जो अन्यथा प्रतिरोध का सामना करेंगी।

उदाहरण के लिए , जब सरकारें आर्थिक प्रबंधन के लिए आलोचना का सामना करती हैं , तो वे अक्सर राष्ट्रवादी प्रदर्शनों की ओर मुड़ती हैं। युद्ध , सीमा तनाव , या अंतरिक्ष मिशन को रणनीतिक रूप से देशभक्ति की भावना को फिर से जगाने के लिए जोर दिया जाता है। जनसंख्या , गर्व से नशे में , झंडे के चारों ओर इकट्ठा होती है और अपनी शिकायतें भूल जाती है। "झंडे के चारों ओर इकट्ठा होने का प्रभाव " अच्छी तरह से प्रलेखित है : युद्धों या संकटों के दौरान नेताओं के लिए अनुमोदन रेटिंग अक्सर बढ़ जाती है , भले ही नीतियों में विफलताएँ हों। राष्ट्रवाद राजनीतिक संज्ञाहरण के रूप में कार्य करता है , वास्तविकता के दर्द को सुस्त करता है।

लतें अक्सर भ्रांतियाँ उत्पन्न करती हैं। शराब एक व्यक्ति को आत्मविश्वासी और अजेय महसूस कराती है , भले ही यह निर्णय लेने की क्षमता को बाधित करती हो। राष्ट्रवाद सामूहिक स्तर पर इसी तरह की भ्रांति उत्पन्न करता है। नागरिक महसूस करते हैं कि उनका राष्ट्र शक्तिशाली , नैतिक , और असाधारण है , भले ही सबूत इसके विपरीत सुझाव देते हों।

कई भारतीय मानते हैं कि उनका देश "विश्वगुरु " बनने के लिए नियत है , जबकि लाखों लोगों को बुनियादी शिक्षा या स्वास्थ्य सेवा तक पहुँच नहीं है। राष्ट्रीय गर्व नागरिकों को महानता का एक झूठा अनुभव देता है , ईमानदार आत्म -प्रतिबिंब को रोकता है।

जैसे सभी नशों के साथ , राष्ट्रवाद के साथ भी भारी

लागत आती है। युद्ध सबसे स्पष्ट हैं। राष्ट्रीय गर्व से प्रेरित होकर, लाखों लोग युद्ध के मैदानों की ओर बढ़ते हैं, यह विश्वास करते हुए कि वे एक पवित्र कारण की सेवा कर रहे हैं। विजय या शहादत की खुशी उन्हें मानव जीवन के विनाश से अंधा कर देती है।

यहां तक कि शांति के समय में, राष्ट्रवाद तर्कसंगत नीति-निर्माण को कमजोर करता है। संरक्षणवादी व्यापार युद्ध, बर्बाद सैन्य खर्च, और भेदभावपूर्ण कानूनों को राष्ट्रीय गर्व के नाम पर सही ठहराया जाता है। नागरिक बलिदानों को स्वीकार करते हैं—उच्च कर, कम स्वतंत्रताएं, कठोर कानून—क्योंकि इन्हें देशभक्ति के कर्तव्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दीर्घकालिक

नुकसान जमा होता है : अर्थव्यवस्थाएं ठहर जाती हैं, समाज ध्रुवीकृत होते हैं, अल्पसंख्यक उत्पीड़न का शिकार होते हैं। फिर भी यह लत बनी रहती है क्योंकि नागरिकों के मन में तात्कालिक भावनात्मक उच्च दीर्घकालिक हानि से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

स्कूल की पाठ्यपुस्तकें हमें एक साफ और सुकून देने वाली कहानी बताती हैं : कि 15 अगस्त 1947 को, भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की। तिरंगा फहराया गया, गान गाया गया, और भारत के लोग एक नए सुबह में प्रवेश कर गए। यह कथा हर साल कक्षाओं, फिल्मों, भाषणों, और स्मरणों में दोहराई जाती है। लेकिन क्या यह पूरी सच्चाई है—या केवल एक सुंदर झूठ जो हमारी सामूहिक विवेक को शांत करने के लिए तैयार किया गया है !

ब्रिटिशों ने भारतीय संस्थानों को सार्वजनिक कल्याण के लिए नहीं बनाया। उन्होंने इन्हें नियंत्रण बनाए रखने के लिए डिजाइन किया। पुलिस, अदालतें, जेलें, और नौकरशाही न्याय या लोकतंत्र के उपकरण नहीं थे, बल्कि निगरानी, दंड, और भय के थे। उपनिवेशीय राज्य का इरादा भारतीयों को सशक्त बनाना नहीं था, बल्कि उन्हें अनुशासित करना था।

मिशेल फूको, अपनी पुस्तक "Discipline and Punish" में, तर्क करते हैं कि आधुनिक कानून और दंड के सिस्टम केवल अपराध और न्याय के बारे में नहीं हैं—वे मनोवैज्ञानिक हथियार हैं जो जनसंख्या को आज्ञाकारी बनाए रखने के लिए डिज़ाइन किए गए हैं। उपनिवेशीय भारत ने इस सिद्धांत का उदाहरण प्रस्तुत किया। कानून एक विदेशी भाषा में बनाए गए, भय के माध्यम से लागू किए गए, और असहमति को तोड़ने के लिए डिज़ाइन किए गए।

1947 के बाद क्या बदला ? डेस्क के पीछे के चेहरे,

वर्दियाँ , और सत्ता की सीटें। लेकिन संरचना , मानसिकता , और तरीके बरकरार रहे। ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए बनाए गए मशीनरी को संरक्षित किया गया , केवल भारतीय अभिजात वर्ग की सेवा के लिए पुनः उपयोग किया गया।

कोलकाता के एक डाक कर्मचारी , "बिनालाल सेन " की कहानी पर विचार करें , जिसे 100 रुपये से कम चुराने का आरोप लगाया गया। आज के संदर्भ में , यह एक तुच्छ राशि है —एकल रेस्तरां के भोजन की लागत से भी कम। फिर भी उसका मामला अदालत में 29 वर्षों तक खिंचता रहा। जब तक निर्णय

आया, उसने अपनी नौकरी , अपने परिवार , और अपने जीवन के सबसे अच्छे वर्ष खो दिए। मामला स्वयं एक प्रकार की सजा बन गया।

यह एक अलग कहानी नहीं है। पत्रकार पी . साइनाथ , अपनी पुस्तक "Everybody Loves a Good Drought" में , ऐसे सैकड़ों मामलों का दस्तावेजीकरण किया है जहां गरीब और मध्यम वर्ग न्याय की तलाश में अदालतों में गए , केवल यह जानने के लिए कि न्यायिक प्रक्रिया स्वयं उनकी सजा थी। उनके लिए , अदालत शरण नहीं थी बल्कि एक जाल थी —एक उपनिवेशीय डिज़ाइन जो स्वतंत्रता के बाद भी जीवित रहा।

यदि यह प्रणाली लोगों को सशक्त बनाने के लिए बनाई गई थी , तो यह जीवन को नष्ट क्यों करती रहती है ? सच्चाई यह है कि न्यायपालिका कभी भी लोगों के लिए डिज़ाइन नहीं की गई थी। इसे ब्रिटिशों द्वारा व्यवस्था बनाए रखने , डराने , और यह सुनिश्चित करने के लिए डिज़ाइन किया गया था कि किसी भी प्राधिकरण को चुनौती देने का कोई आधार न मिले। आज , यह वही कार्य करती है। एकमात्र अंतर यह है कि न्यायाधीश , वकील, और अधिकारी भारतीय हैं। भय की वास्तुकला अपरिवर्तित बनी हुई है।

पाठ्यपुस्तकें दावा करती हैं कि स्वतंत्रता ने लोकतंत्र लाया। लेकिन लोकतंत्र केवल वोट देने का अधिकार नहीं है। यह निर्णयों को प्रभावित करने , शासन में भाग लेने और सत्ता को जवाबदेह ठहराने की क्षमता है। भारत में , लोकतंत्र अक्सर वास्तविकता की तुलना में नाटक की तरह अधिक दिखाई देता है।

अरुंधति रॉय ने "द अल्जेब्रा ऑफ इनफिनिट जस्टिस " में भारतीय लोकतंत्र को एक "घटना " के रूप में वर्णित किया। चुनाव के दिन , लोग दिखाई देते हैं ; उनकी आवाजें महत्वपूर्ण लगती हैं। लेकिन उसके अगले

दिन , वे फिर से गायब हो जाते हैं , निष्क्रिय दर्शकों में बदल जाते हैं जबकि निर्णय बंद कमरों में अभिजात वर्ग द्वारा लिए जाते हैं। यह पैटर्न उपनिवेशीय प्रथा को दर्शाता है जिसमें परिषदों और बोर्डों का गठन किया गया था जो भारतीयों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते थे लेकिन वास्तविक निर्णयों को आकार देने में असहाय रहे।

रामचंद्र गुहा , "गांधी के बाद भारत " में तर्क करते हैं कि जबकि नेता बदलते रहे , शासन की मानसिकता उपनिवेशी बनी रही : लोगों पर शासन करना न कि लोगों के लिए शासन करना। 1975-77 का आपातकाल इस वास्तविकता को उजागर करता है। यहां तक कि इंदिरा के पतन के बाद भी

गांधी , जब जनता पार्टी सत्ता में आई , लोगों ने वास्तविक परिवर्तन की उम्मीद की। इसके बजाय , पुराने पैटर्न फिर से उभरे - भ्रष्टाचार , केंद्रीकरण , और अधिनायकवाद। उपनिवेशी ढांचा बना रहा ; केवल मांसपेशियाँ बदली थीं।

नोआम चॉम्स्की का आधुनिक लोकतंत्रों का विश्लेषण यहाँ लागू होता है : असली शक्ति मतदाताओं के पास नहीं बल्कि एक "एलीट सहमति " के पास है। उपनिवेशीय भारत में , यह सहमति लंदन में बनी थी ; आज, यह नई दिल्ली में राजनेताओं , कॉर्पोरेट टाइकूनों और नौकरशाहों के बीच बनती है। लोग हर कुछ वर्षों में मतदान करके केवल उनके शासन को वैधता प्रदान करते हैं।

औपनिवेशिक शोषण स्पष्ट था : कच्चे माल को भारत से सस्ते में लिया गया , ब्रिटेन में संसाधित किया गया , और उच्च कीमतों पर वापस बेचा गया। भारत से धन को व्यवस्थित रूप से निकाला गया। लेकिन क्या यह बदल गया है ?

आज, ब्रिटिश व्यापारियों के बजाय , भारतीय कॉर्पोरेट्स के पास धन है। राज्य और पूंजी के बीच का संबंध पहले से कहीं अधिक मजबूत है। थॉमस पिकेटी , "21 वीं सदी में पूंजी " में नोट करते हैं कि पूंजी और शक्ति हमेशा एक -दूसरे को मजबूत करती हैं। भारत में , कर प्रणाली और नीतियाँ अमीरों के पक्ष में हैं , जबकि मध्यवर्ग पर सबसे भारी बोझ है। गरीबों को सब्सिडी पर निर्भर रखा जाता है , जबकि अमीर करों से बचने के लिए छिद्रों का लाभ उठाते हैं।

औपनिवेशिक भारत में , अभिजात वर्ग भव्य क्लबों और बंगालियों में रहते थे जबकि आम लोग भारी करों के तहत मेहनत करते थे। आज , अभिजात वर्ग गेटेड समुदायों और लक्जरी एन्क्लेव में निवास करते हैं जबकि

अधिकांश लोग ईएमआई , किराए और बढ़ती लागतों के साथ संघर्ष कर रहे हैं। नाम बदल गए हैं , लेकिन पदानुक्रम नहीं बदला है।

अरुंधति रॉय , "डेमोक्रेसी पर फील्ड नोट्स " में अवलोकन करती हैं कि भारत की लोकतंत्र उपनिवेशी मानसिकता को बनाए रखता है : संसाधन लोगों के नहीं बल्कि सत्ता के होते हैं। चाहे वह भूमि हो , जंगल हों , या खनिज , नीतियाँ कुछ चुनिंदा लोगों के लाभ के लिए बनाई जाती हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के लिए लूटते थे ; आज का अभिजात वर्ग अपने लिए लूटता है।

औपनिवेशिक शासन के दौरान , असहमति को कुचला गया। सरकार के खिलाफ बोलने पर किसी को विद्रोही करार दिया जा सकता था। समाचार पत्रों पर सेंसरशिप थी , सभाओं पर प्रतिबंध था , और निगरानी निरंतर थी। आज क्या अलग है ?

भाषा बदल गई है , वास्तविकता नहीं। यदि आप सरकार के खिलाफ बोलते हैं , तो आपको "देशद्रोही " कहा जाता है। विद्रोह कानून , जो कभी ब्रिटिश द्वारा उपयोग किए गए थे , आज भी लागू हैं। शांतिपूर्ण सभा पर प्रतिबंधात्मक आदेश , लाठीचार्ज और गिरफ्तारियां होती हैं। उपनिवेशी समय में , जलियांवाला बाग में गोलियां थीं ; आज, यह धारा 144, एफआईआर और डिजिटल निगरानी है।

रामचंद्र गुहा हमें याद दिलाते हैं कि एक लोकतंत्र में , असहमति आवश्यक है। लेकिन भारत में , असहमति को अक्सर विश्वासघात के रूप में देखा जाता है। अरुंधति रॉय नोट करती हैं कि राज्य ने खुले हिंसा के बजाय कानूनी और प्रक्रियात्मक तरीकों से विरोध को चुप कराने की कला को परिपूर्ण कर लिया है। उपनिवेशी समय में , गोली एक हथियार थी ; आज, यह नौकरशाही का नोटिस है।

यहां तक कि मीडिया का परिदृश्य इस निरंतरता को दर्शाता है। उपनिवेशी राज्य ने समाचार पत्रों पर सेंसर लगाया ; आज, ट्वीट और पोस्ट हटा दिए जाते हैं। उपनिवेशी राज्य ने जासूसों का उपयोग किया ; आज, डिजिटल निगरानी हर नागरिक को ट्रैक करती है। नियंत्रण की मशीनरी अधिक परिष्कृत हो गई है लेकिन कम दमनकारी नहीं।

शशि थरूर , "अंधकार के युग " में लिखते हैं कि ब्रिटिश राज की सबसे स्थायी विरासत केवल रेलवे या इमारतें नहीं थीं , बल्कि एक शक्ति प्रणाली थी जिसने

कुछ भारतीयों को ऊपर और कई भारतीयों को नीचे रखा। वह पदानुक्रम आज भी बना हुआ है।

स्वतंत्रता केवल जंजीरों को तोड़ना नहीं था, बल्कि चाबियों का पास होना था। वही उपनिवेशी ताला बना हुआ है। मंत्री, नौकरशाह, और विधायक उन सीटों पर बैठे हैं जो कभी गवर्नरों, कलेक्टरों, और ज़मींदारों के पास थीं। मध्य और निम्न वर्ग नीचे ही बने रहते हैं, कराधान, नौकरशाही, और भय के नीचे कुचले जाते हैं।

महात्मा गांधी ने चेतावनी दी थी कि सच्ची स्वतंत्रता केवल विदेशी शासन से स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि भय और अन्याय से स्वतंत्रता है। यदि स्वतंत्रता केवल एक झंडा उठाने का नाम है, तो हां — भारत स्वतंत्र है। लेकिन यदि स्वतंत्रता का मतलब समानता, न्याय, और बिना भय के जीने का साहस है, तो भारत कभी सच में स्वतंत्र नहीं रहा।

समस्या केवल यह नहीं है कि उपनिवेशी संरचनाएं विरासत में मिलीं; यह है कि उन्हें कभी dismantled नहीं किया गया। पुलिस, अदालतें, कर प्रणाली, नौकरशाही —सभी उपनिवेशी भावना और कार्य में बने हुए हैं। वे शक्तिशाली के लिए काम करते हैं, लोगों के लिए नहीं।

सच्ची स्वतंत्रता शासकों को बदलने या वर्षगांठ मनाने से नहीं आएगी। यह संरचनाओं को बदलने, पदानुक्रमों को तोड़ने, और संस्थानों को लोगों के लिए पुनः प्राप्त करने से आएगी। तब तक, स्वतंत्रता एक मिथक बनी रहेगी, और भारत के लोग एक पिंजरे में कैद रहेंगे जिसकी पेंटिंग बदल गई है लेकिन जिसकी सलाखें हमेशा की तरह मजबूत हैं।

सच्ची मुक्ति राष्ट्रवाद या राष्ट्र-राज्य से नहीं आ सकती। यह किसी भी ऐसे प्रणाली से नहीं उभर सकती जो प्रभुत्व पर आधारित हो —चाहे वह उपनिवेशवाद, सामुदायिक राष्ट्रवाद, राजतंत्र, तानाशाही, या यहां तक कि वर्तमान रूप में लोकतंत्र हो। क्योंकि हर ऐसे आदेश में, शक्ति लोगों पर शासन करने के लिए संरचित होती है, उनकी सेवा करने के लिए नहीं। जब तक हम इन पिंजरों के भीतर रहेंगे, शक्ति मालिक बनी रहेगी और मानवता विषय। जब तक हम शासकों और शासितों के परे एक दुनिया की कल्पना और निर्माण करने की हिम्मत नहीं करते, 15 अगस्त स्वतंत्रता का

उत्सव नहीं रहेगा, बल्कि केवल जंजीरों की पुनः पेंटिंग का स्मरण रहेगा।

राष्ट्रवाद ने कभी-कभी इतिहास में एक रचनात्मक भूमिका निभाई है, लेकिन आज यह मानव प्रगति के लिए सबसे बड़े बाधाओं में से एक है। यह एक पुरानी कहानी है जिसे पीछे छोड़ना चाहिए। जब तक हम झूठी राष्ट्रीय पहचान की जंजीरों को नहीं तोड़ते, युद्ध और अन्याय समाप्त नहीं होंगे।

कानून

"न्याय अंधा है" का यह उपदेश आधुनिक कानूनी चेतना के केंद्र में है। अदालतों, पाठ्यपुस्तकों और लोकप्रिय कल्पना में, न्याय की देवी की छवि —जिसकी आंखें ढकी हुई हैं, एक हाथ में तराजू और दूसरे में तलवार —इस विश्वास को मजबूत करती है कि कानून निष्पक्ष है, सभी को समान रूप से व्यवहार करता है, पहचान, स्थिति या पूर्वाग्रह की परवाह किए बिना। इस उपमा के माध्यम से, कानून को एक तटस्थ और वस्तुनिष्ठ प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो केवल तथ्यों और नियमों पर काम करता है, न कि शक्ति, धन, पहचान या भावना पर। यह छवि इतनी गहराई से आत्मसात की गई है कि हम अक्सर कानून को सवालों से परे मान लेते हैं। फिर भी, इसी बिंदु पर, एक बुनियादी लेकिन असहज प्रश्न उठता है: यदि न्याय वास्तव में अंधा है, तो अन्याय इतना लगातार पूर्वानुमानित क्यों है?

व्यावहारिक वास्तविकता दिखाती है कि कानूनी परिणाम यादृच्छिक से बहुत दूर हैं। किसे गिरफ्तार किया जाता है, कौन परीक्षण के दौरान जेल में रहता है, कौन जमानत देने में सक्षम है, और कौन सक्षम कानूनी प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है —इन सभी कारकों का सामाजिक स्थिति से मजबूत संबंध है। गरीब, हाशिए पर रहने वाले और असहाय व्यक्ति अनुपात में आपराधिक न्याय प्रणाली के संपर्क में आते हैं, जबकि शक्तिशाली के पास प्रणाली के भीतर सुरक्षा, देरी और बचने के तंत्र होते हैं। यदि कानून वास्तव में संदर्भ-मुक्त और निष्पक्ष होता, तो ऐसे पैटर्न नहीं बने रहते। इस विरोधाभास को समझने के लिए कानून को

नैतिक अमूर्तता के रूप में नहीं, बल्कि एक दार्शनिक और संस्थागत निर्माण के रूप में देखना आवश्यक है।

यहां से न्यायशास्त्र शुरू होता है—कानून के अधिकार की जांच करके, न कि इसे स्वाभाविक या स्व-सिद्ध मानकर। कानून एक प्राकृतिक शक्ति नहीं है जो अपने आप मौजूद है; यह एक मानव-निर्मित प्रणाली है

जो ऐतिहासिक , राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के भीतर विकसित हुई है। "न्याय अंधा है" का कथन एक वर्णनात्मक तथ्य नहीं है बल्कि एक मानक दावा है—एक आदर्श जो कानून अपने बारे में प्रस्तुत करता है। इसका प्राथमिक कार्य न्याय की गारंटी देना नहीं है, बल्कि आज्ञाकारिता को सामान्य बनाना है। जब कानून को तटस्थ और तर्कसंगत के रूप में देखा जाता है, तो इसका पालन करना तार्किक और नैतिक रूप से सुरक्षित लगता है, और इसे चुनौती देना असंगत या अस्थिर प्रतीत होता है।

अंधेपन की उपमा भ्रामक हो जाती है। अंधापन को तटस्थता के प्रतीक के रूप में माना जाता है, जबकि वास्तव में यह संदर्भ के उन्मूलन का संकेत है। जब कानून संदर्भ की अनदेखी करता है, तो यह न्याय नहीं देता; यह केवल प्रक्रिया को लागू करता है। एक अमीर और एक गरीब व्यक्ति को "कानून के सामने समान" घोषित करना औपचारिक समानता को दर्शा सकता है, लेकिन वास्तविक समानता नहीं। जब जमानत धन पर निर्भर करती है, तो परीक्षण एक प्रकार की सजा बन जाते हैं, और कानूनी विशेषज्ञता एक बाजार वस्तु होती है, तो कानून की अंधता संस्थागत उदासीनता बन जाती है, न कि निष्पक्षता।

निष्पक्षता का यह दावा एक रणनीतिक कार्य भी करता है: नैतिक जिम्मेदारी का विसरण। कानूनी प्रणाली अपनी बलात्कारी शक्ति—पुलिस, कारावास, निगरानी—को "उचित प्रक्रिया" के माध्यम से वैध बनाती है। एक बार जब हिंसा कानूनी हो जाती है, तो यह हिंसा के रूप में प्रकट नहीं होती; इसे व्यवस्था और आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। न्यायाधीश नियमों का पालन करते हैं, पुलिस आदेशों को लागू करती है, और जेलें कानून को लागू करती हैं—इस श्रृंखला के

भीतर , कोई भी अभिनेता अपने आप को एक नैतिक एजेंट के रूप में नहीं देखता। जिम्मेदारी प्रणाली में विलीन हो जाती है।

मानव समाजों ने कभी भी बिना औचित्य के आज्ञाकारिता को स्वीकार नहीं किया है। हर युग में , अधिकार ने कुछ नैतिक या आध्यात्मिक आधार की आवश्यकता की है ताकि इसके आदेशों को केवल बलात्कारी के रूप में नहीं , बल्कि "कर्तव्य" के रूप में आत्मसात किया जा सके। प्री-मॉडर्न समाजों में , यह आधार मुख्य रूप से धार्मिक था। कानून को दिव्य आदेश के रूप में समझा जाता था—या तो सीधे भगवान से या भगवान के प्रतिनिधि के माध्यम से। पाप और अपराध के बीच का भेद धुंधला हो गया था।

एक नियम का उल्लंघन केवल राज्य के खिलाफ एक कार्य नहीं था, बल्कि ब्रह्मांडीय व्यवस्था के खिलाफ भी था। इस ढांचे में, आज्ञाकारिता अधिक विश्वास में निहित थी न कि भय में: लोग इसलिए आज्ञा मानते थे क्योंकि उन्हें विश्वास था कि भगवान देख रहे हैं, न कि केवल कानून।

जैसे-जैसे आधुनिकता ने धार्मिक अधिकार को चुनौती दी, एक शून्य उत्पन्न हुआ। वैज्ञानिक तर्क, प्रबोधन विचार, और धर्मनिरपेक्ष राजनीति ने धीरे-धीरे दिव्य कानून की वैधता को कमजोर कर दिया। फिर भी, अधिकार स्वयं गायब नहीं हुआ; यह बदल गया। जहां भगवान कभी बैठते थे, वहां अब राज्य बैठता है। जहां पुजारी और शास्त्र कभी प्रभावी थे, वहां अब विधान सभा और संविधान ने उनकी जगह ले ली है। "भगवान ऐसा कहता है" बन गया "कानून ऐसा कहता है।" आज्ञाकारिता का विषय धर्मनिरपेक्ष हो गया, लेकिन इसकी संरचना—आदेश, कर्तव्य, सजा—अविचलित रही।

इस परिवर्तन का सबसे दिलचस्प पहलू यह है कि कानून ने न केवल धर्म से अधिकार विरासत में लिया, बल्कि इसकी नैतिक आभा भी। कानून अपने आप को केवल नियमों के संग्रह के रूप में नहीं, बल्कि व्यवस्था, स्थिरता, और सामाजिक भलाई के संरक्षक के रूप में प्रस्तुत करता है। जैसे धर्म अपने आदेशों को पवित्र और सवाल से परे उठाता है, कानून अपने आदेशों को आवश्यक और अपरिहार्य के रूप में प्रस्तुत करता है, आलोचना के प्रति प्रतिरक्षित। इस प्रक्रिया में, कानून केवल एक तकनीकी प्रणाली से अधिक बन जाता है; यह एक नैतिक संस्था बन जाता है—बिना स्पष्ट रूप से नैतिक भाषा का उपयोग किए।

न्यायाधीश की भूमिका कार्यात्मक रूप से पुजारी की भूमिका के समान है। दोनों प्राधिकरण के

व्याख्याकार के रूप में कार्य करते हैं। जैसे पुजारी दिव्य इच्छा की व्याख्या करता है, न्यायाधीश संविधान और कानूनों की व्याख्या करता है। दोनों के पास विवेकाधिकार होता है, और दोनों उच्च वैधता के संदर्भ में अपने निर्णयों को सही ठहराते हैं। इस प्रकार, अदालतों की अनुष्ठानिक प्रकृति कोई संयोग नहीं है—गाउन, औपचारिक भाषा, ऊंची बेंचें—सभी प्राधिकरण का प्रतीक हैं, जो दूरी और श्रद्धा का निर्माण करते हैं। कानून अपनी शक्ति केवल बल के माध्यम से नहीं, बल्कि समारोह और प्रतीकवाद के माध्यम से बनाए रखता है।

इस बदलाव के साथ , पाप और अपराध के बीच का भेद केवल सतही है। धार्मिक ढांचे के भीतर , पाप आत्मा के खिलाफ था ; धर्मनिरपेक्ष ढांचे के भीतर , अपराध राज्य के खिलाफ है। दोनों मामलों में , व्यक्तिगत कार्य को एक अमूर्त प्राधिकरण के खिलाफ ढाला गया है। नैतिक जटिलता कानूनी श्रेणियों में संकुचित हो जाती है ; इरादा , परिस्थिति , और सामाजिक संदर्भ गौण हो जाते हैं , जबकि नियमों का उल्लंघन प्राथमिक बन जाता है। इस तरह , कानून नैतिक जिम्मेदारी को राजनीतिकरण से मुक्त करता है बजाय इसके कि इसे व्यक्तिगत बनाता है। संरचनात्मक अन्याय एक व्यक्तिगत अपराध बन जाता है , और आज्ञाकारिता को एक गुण के रूप में पुरस्कृत किया जाता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि धर्मनिरपेक्ष कानून , जबकि यह धार्मिक सिद्धांत से अलग होने का दावा करता है , एक Remarkably समान मनोवैज्ञानिक कार्य करता है। धर्म ने दिव्य दंड के डर के माध्यम से अनुपालन उत्पन्न किया ; कानून वही हासिल करता है कानूनी दंड के डर के माध्यम से। धर्म ने शाश्वत परिणामों पर जोर दिया ; कानून तात्कालिक परिणामों पर जोर देता है। लक्ष्य समान है : पूर्वानुमान योग्य व्यवहार , नियंत्रित जनसंख्या , और प्राधिकरण के लिए स्थिरता। अंतर केवल इस बात में है कि कानून अपने आप को तर्कसंगत और वैज्ञानिक के रूप में प्रस्तुत करता है , जिससे यह सामाजिक रूप से अधिक स्वीकार्य बनता है।

कानून को आमतौर पर एक निश्चित और स्व-स्पष्ट प्रणाली के रूप में समझा जाता है , जैसे कि यह हमेशा से मौजूद है और अपरिवर्तित रहेगा। स्कूल की पाठ्यपुस्तकें , नागरिकता की पाठशालाएँ , और कानूनी संस्थाएँ कानून को नियमों के एक सेट के रूप में

प्रस्तुत करती हैं जिन्हें केवल इसलिए पालन करना चाहिए क्योंकि वे "कानून" हैं। इस ढांचे में, कानून की उत्पत्ति, इसका उद्देश्य, और इसके लाभार्थी पृष्ठभूमि में धुंधले हो जाते हैं। एक वकील के लिए, कानून एक परिचालन उपकरण है: अधिनियम, पूर्ववृत्त, और प्रक्रियाएँ। एक दार्शनिक के लिए, कानून गहरे प्रश्न उठाता है: कौन सी प्राधिकरण इस तरह की शक्ति प्रदान करती है कि अनुपालन की मांग की जा सके, और हम इसे वैध क्यों मानते हैं?

कानूनशास्त्र कानून को केवल नियमों के संग्रह के रूप में नहीं देखता; यह कानून को आदेश के एक संस्थागत रूप के रूप में देखता है। कानून है

वह प्रणाली जिसके माध्यम से कुछ अभिनेता —विधायिकाएँ, न्यायालय, और राज्य तंत्र —जनसंख्या के लिए बाध्यकारी मानदंडों को परिभाषित करते हैं और उनके उल्लंघन के लिए स्वीकृत परिणामों को लागू करते हैं। इस परिभाषा में, नैतिकता गौण हो जाती है, और प्रवर्तन प्राथमिक बन जाता है। कानून प्रभावी है न केवल इसलिए कि यह हमेशा न्यायसंगत है, बल्कि इसलिए कि इसे बलात्कारी शक्ति द्वारा समर्थित किया जाता है। पुलिस, जेलें, और निगरानी आकस्मिक उपोत्पाद नहीं हैं; वे संरचनात्मक स्तंभ हैं।

इस बिंदु पर, कानून और न्याय के बीच भेद करना आवश्यक है। न्याय एक नैतिक आकांक्षा है —तरल, संदर्भित, और विवादास्पद। कानून एक औपचारिक तंत्र है —कठोर, संहिताबद्ध, और लागू करने योग्य। जबकि वे अक्सर ओवरलैप करते हैं, वे स्वाभाविक रूप से समान नहीं होते। इतिहास बार-बार यह प्रदर्शित करता है कि कानून न्याय के खिलाफ काम कर सकता है और फिर भी कानूनी रूप से मान्य रह सकता है। दासता, अलगाव, उपनिवेशी शासन, और जाति-आधारित बहिष्कार केवल सामाजिक प्रथाएँ नहीं थीं; इन्हें पूरी तरह से कानूनी प्रणालियों के माध्यम से बनाए रखा गया। यह मान लेना कि जो कानूनी है वह स्वचालित रूप से न्यायसंगत है, एक खतरनाक मिश्रण है, जो आज्ञाकारिता को एक नैतिक गुण में बदल देता है।

कानून का एक और महत्वपूर्ण पहलू इसकी अमूर्तता है। मानव संघर्षों को कानूनी भाषा में अनुवाद करना उनके राजनीतिक और नैतिक आयामों को समतल कर देता है। संरचनात्मक शोषण व्यक्तिगत विवादों में बदल जाता है; प्रणालीगत हिंसा को "कानून और व्यवस्था" के मुद्दों के रूप में फिर से परिभाषित किया जाता है। इस प्रक्रिया में, शक्ति संबंधों को स्वाभाविक

किया जाता है। जो राजनीतिक बहस होनी चाहिए थी , वह कानूनी तकनीकीता बन जाती है। इस तरह , कानून असहमति को राजनीतिकरण से मुक्त करता है और प्रतिरोध को अवैधता के रूप में फिर से परिभाषित करता है। यहाँ आज्ञाकारिता केवल अनुपालन नहीं है ; यह नागरिक जिम्मेदारी के बहाने नैतिक रूप से वांछनीय बन जाती है।

कानून की वैधता का दावा मुख्य रूप से प्रक्रिया के माध्यम से काम करता है। यदि कोई नियम "उचित प्रक्रिया " के माध्यम से बनाया गया है —यहां तक कि यदि उस प्रक्रिया में भागीदारी असमान है —तो नियम को मान्य माना जाता है। इसी तरह कानून की प्राधिकरण आत्म -प्रवर्धक बन जाती है। कानून अपनी वैधता को कानून के माध्यम से सही ठहराता है : संसद को शक्ति है क्योंकि

संविधान ऐसा कहता है, और संविधान को प्राधिकरण है क्योंकि कानून ऐसा कहता है। यह चक्रीयता प्राधिकरण को चुनौती देना मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक रूप से कठिन बना देती है। प्राधिकरण एक बंद प्रणाली के रूप में कार्य करता है, जो वैधता को बाहरी नैतिकता से नहीं बल्कि आंतरिक संगति से प्राप्त करता है।

यह संरचनात्मक ढांचा तटस्थता का भ्रम पैदा करता है। क्योंकि कानून औपचारिक रूप से सभी पर लागू होता है, यह निष्पक्ष प्रतीत होता है। फिर भी, आवेदन की समानता और प्रभाव की समानता के बीच का अंतर छिपा रहता है। समान कानून जो अत्यधिक असमान सामाजिक परिस्थितियों पर लागू होता है, असमानता को सुधारने के बजाय उसे मजबूत करता है। कानून असमानता नहीं पैदा कर सकता, लेकिन यह उसे स्थिर करता है। इस स्थिरता को "व्यवस्था" के रूप में मनाया जाता है, हालांकि यह केवल मौजूदा शक्ति संबंधों को जमी हुई स्थिति में रखता है।

प्राकृतिक कानून की नैतिक अस्पष्टता के जवाब में, कानूनी सकारात्मकता उभरी - एक ढांचा जो जानबूझकर कानून को नैतिकता से अलग करता है। कानूनी सकारात्मकता का केंद्रीय दावा धोखे से सरल और शक्तिशाली है: कानून वह है जो उचित प्राधिकरण द्वारा उचित प्रक्रिया के माध्यम से लागू किया जाता है। यह कि कोई कानून न्यायसंगत है या अन्यायसंगत, यह गौण है; इसका स्रोत और प्रक्रियागत वैधता प्राथमिक हैं। यदि कोई नियम एक संप्रभु प्राधिकरण से आता है और स्थापित कानूनी प्रक्रियाओं का पालन करता है, तो यह कानून है, चाहे नैतिक सामग्री कुछ भी हो। इस दृष्टिकोण की अपील इसकी स्पष्टता और पूर्वानुमानिता में निहित है, जो नैतिक असहमति के अराजकता से बचती है। फिर भी इस

ताकत के भीतर कानूनी सकारात्मकता की सबसे खतरनाक कमजोरी निहित है।

कानूनी सकारात्मकता आज्ञाकारिता को नैतिक विचार से मुक्त करती है। जब कानून नैतिकता से अलग हो जाता है, तो अनुपालन एक तकनीकी कर्तव्य बन जाता है, न कि एक नैतिक विकल्प, नागरिकों और संस्थानों दोनों के लिए। "मैं बस कानून का पालन कर रहा हूँ" एक शक्तिशाली आत्म-निष्कासन कथन बन जाता है। इतिहास दिखाता है कि कुछ सबसे गंभीर अन्याय इसी तर्क के माध्यम से लागू किए गए थे—न कि इसलिए कि लोग क्रूर थे, बल्कि इसलिए कि वे अनुपालन कर रहे थे। जब कानून को केवल इस आधार पर वैध माना जाता है

प्रक्रिया , विरोधी प्राधिकरण न केवल अवैध प्रतीत होता है , बल्कि असंगत भी।

कानूनी सकारात्मकता का सूक्ष्म प्रभाव वैधता और वैधता के बीच के अंतर को धुंधला कर देता है। जो कानूनी है वह स्वचालित रूप से स्वीकार्य प्रतीत होता है क्योंकि प्रणाली ने इसे मान्यता दी है। इस ढांचे में , अन्याय एक नीति समस्या बन जाता है न कि नैतिक , कुछ ऐसा जिसे भविष्य में संशोधनों के माध्यम से ठीक किया जाना है। वर्तमान पीड़ा को प्रक्रियात्मक धैर्य के नाम पर टाल दिया जाता है। "प्रणाली के भीतर रहो ," "प्रक्रिया का पालन करो ," और "अदालतों को निर्णय लेने दो " जैसे वाक्यांश न्याय के वादे नहीं रह जाते ; वे आज्ञाकारिता के निर्देश बन जाते हैं।

यह दृष्टिकोण गहरे संस्थागत प्रभाव डालता है। न्यायाधीशों को कानून के यांत्रिक लागू करने वालों के रूप में कल्पित किया जाता है , जो तटस्थ रूप से कानूनों और पूर्ववर्तियों को लागू करते हैं। यह कल्पना न्यायिक विवेक और पूर्वाग्रह को अदृश्य बना देती है। जब एक न्यायाधीश अन्यायपूर्ण परिणाम उत्पन्न करता है , तो दोष प्रणाली पर चला जाता है : "कानून ऐसा है। " कानूनी सकारात्मकता नैतिक जिम्मेदारी को भंग कर देती है , इसे व्यक्तिगत कार्यकर्ताओं से एक अमूर्त प्रणाली में स्थानांतरित कर देती है। कानून एक स्वायत्त मशीन बन जाता है , जिसमें कोई भी खुद को जिम्मेदार नहीं मानता।

कानूनी सकारात्मकता की यांत्रिक स्पष्टता के सुधार के रूप में , कानूनी यथार्थवाद एक विघटनकारी हस्तक्षेप के रूप में उभरा। कानूनी यथार्थवादी एक असहज सत्य का सामना करते हैं : कानून वह नहीं है जो

विधायी पुस्तकों में लिखा गया है ; कानून वह है जो न्यायाधीश वास्तव में मामलों में करते हैं। उनके लिए , कानून एक अमूर्त प्रणाली नहीं है बल्कि एक जीती -जागती प्रथा है —एक जो मानव अभिनेताओं के माध्यम से संचालित होती है , और इसलिए उनके पूर्वाग्रहों , अनुभवों और सामाजिक स्थितियों से मुक्त नहीं हो सकती। कानूनी यथार्थवाद सीधे उस मिथक को चुनौती देता है कि "न्याय अंधा है ," यह insisting करता है कि कानून आंखों के साथ काम करता है —और वे आंखें मानव हैं।

कानूनी यथार्थवाद की केंद्रीय अंतर्दृष्टि यह है कि न्यायिक निर्णय लेना केवल एक तार्किक या व्युत्कर्षात्मक अभ्यास नहीं है। न्यायाधीश केवल नियमों को लागू नहीं करते ; वे व्याख्या करते हैं , चुनते हैं , और

कभी-कभी उन्हें रचनात्मक रूप से विस्तारित या सीमित किया जाता है। इस प्रक्रिया में, एक न्यायाधीश की वर्ग पृष्ठभूमि, राजनीतिक विचारधारा, नैतिक विश्वदृष्टि, और अनुभव चुपचाप परिणामों को प्रभावित करते हैं। दो न्यायाधीश एक ही कानून को पढ़ते हुए विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं—और अक्सर ऐसा करते हैं। यदि कानून वास्तव में तटस्थ और आत्म-कार्यकारी होता, तो परिणाम इतने लगातार भिन्न नहीं होते। कानूनी यथार्थवाद इस परिवर्तनशीलता को उजागर करता है और इस प्रकार कानून की तटस्थता के दावे को अस्थिर करता है।

इस दृष्टिकोण से, "किताबों में कानून" और "कार्रवाई में कानून" के बीच का अंतर आकस्मिक नहीं है, बल्कि संरचनात्मक है। अधिनियम और पूर्ववृत्त एक ढांचा प्रदान करते हैं, लेकिन असली शक्ति उन लोगों के पास होती है जो उन्हें लागू करते हैं। अदालत का कक्ष एक अमूर्त नैतिक स्थान नहीं है; यह एक सामाजिक स्थान है जहाँ भाषा, व्यवहार, सम्मान और विश्वसनीयता महत्वपूर्ण हैं। कौन बोलता है, किस लहजे में, और किस आत्मविश्वास के साथ, कानूनी परिणामों को सूक्ष्म रूप से प्रभावित करता है। कानूनी यथार्थवाद यह दर्शाता है कि कानून केवल नियमों का पालन करने की प्रणाली नहीं है, बल्कि यह धारणा प्रबंधन की एक प्रणाली भी है।

एक और परेशान करने वाला निहितार्थ यह है कि न्यायिक विवेक अनिवार्य है। कानून चाहे कितना भी विस्तृत हो, यह हर स्थिति को पूरी तरह से कवर नहीं कर सकता। हमेशा कुछ न कुछ अंतराल रह जाते हैं, और इन्हें न्यायाधीश ही भरते हैं। विवेक शक्ति का संकेत है—और शक्ति हमेशा असमान रूप से वितरित होती है। जब विवेक तटस्थता के मिथक के पीछे छिपा होता है,

तो जवाबदेही कठिन हो जाती है। एक न्यायाधीश का निर्णय "कानून" बन जाता है, और कानून का निर्णय "वस्तुनिष्ठ आवश्यकता" बन जाता है।

अधिकारों को आमतौर पर आधुनिक स्वतंत्रता के सबसे शक्तिशाली प्रतीक के रूप में देखा जाता है। संविधान, घोषणाएँ, और कानूनी चार्टर अधिकारों को इस तरह प्रस्तुत करते हैं जैसे कि वे मानवों के लिए स्वाभाविक हैं—अविभाज्य, अंतर्निहित, और सार्वभौमिक। "मानव अधिकार," "मूल अधिकार," और "प्राकृतिक अधिकार" जैसे शब्द इस धारणा को मजबूत करते हैं कि अधिकार राज्य से पहले से मौजूद हैं, और राज्य की भूमिका केवल उनकी रक्षा करना है। फिर भी जब अधिकारों की जांच की जाती है तो

कानूनी वास्तविकता में, एक असहज विरोधाभास उभरता है: यदि अधिकार वास्तव में जन्मसिद्ध अधिकार हैं, तो उनकी प्रभावी उपस्थिति राज्य की मान्यता पर निर्भर क्यों है?

कानूनी प्रणालियों के भीतर, अधिकार केवल तभी अर्थपूर्ण बनते हैं जब वे लागू किए जा सकें, और लागू करने की शक्ति विशेष रूप से राज्य के पास होती है। इसका अर्थ है कि अधिकारों की व्यावहारिक स्थिति उन संस्थानों द्वारा निर्धारित होती है जिनका अधिकारों को सिद्धांत रूप से सीमित करने का उद्देश्य होता है। जब राज्य एक अधिकार "प्रदान" करता है, तो वह उस अधिकार का दरवाजे का रखवाला भी बन जाता है। इसलिए, अधिकार निरपेक्ष नहीं रह जाते; वे शर्तों पर निर्भर हो जाते हैं—नागरिकता, वैधता, व्यवहार, और अक्सर आज्ञाकारिता पर। एक कानून का पालन करने वाला नागरिक अपने अधिकारों का पूर्ण अनुभव करता है; एक असहमत व्यक्ति उन्हें बातचीत योग्य या सीमित के रूप में अनुभव करता है।

यहां, अधिकारों और अनुमतियों के बीच का भेद धुंधला होने लगता है। जबकि अनुमतियां हमेशा प्राधिकरण की विवेकाधीनता पर निर्भर होती हैं, अधिकार सिद्धांत रूप से इसके परे होते हैं। फिर भी जब अधिकार कानून के माध्यम से कार्य करते हैं, तो वे increasingly अनुमतियों की तरह व्यवहार करने लगते हैं। विरोध करने का अधिकार केवल तब तक मान्य है जब तक यह असुविधा उत्पन्न नहीं करता; अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता केवल तब तक सहनीय है जब तक यह सीधे शक्ति को चुनौती नहीं देती; आंदोलन का अधिकार केवल तब तक अस्तित्व में है जब तक राज्य आपातकाल की घोषणा नहीं करता। इस प्रकार, अधिकारों का दायरा चुपचाप सिकुड़ता है बिना औपचारिक निरसन के।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि अधिकारों की चर्चा अक्सर असमानता को प्रबंधित करती है न कि इसे सुधारती है। जबकि औपचारिक अधिकार सभी को समान रूप से दिए जा सकते हैं , उन्हें लागू करने की क्षमता असमान होती है। एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिए , एक अधिकार एक ढाल के रूप में कार्य करता है ; एक हाशिए पर पड़े व्यक्ति के लिए , वही अधिकार एक कागजी वादा बन जाता है। न्यायालय और कानूनी प्रक्रियाएं सिद्धांत रूप से सभी के लिए खुली होती हैं , लेकिन व्यावहारिक रूप से , पहुंच समय , धन, और साक्षरता पर निर्भर होती है। अधिकारों की सार्वभौमिक भाषा , मौजूदा पदानुक्रमों को चुनौती देने के बजाय , अक्सर उन्हें स्थिर करती है।

कानूनी सकारात्मकता और कानूनी यथार्थवाद के दृष्टिकोण से, अधिकारों का अर्थ और भी नाजुक हो जाता है। उनकी व्याख्या न्यायिक विवेक पर निर्भर करती है, और उनका प्रवर्तन कार्यकारी की इच्छा पर निर्भर करता है। आज एक अधिकार जिसे मौलिक माना जाता है, कल संशोधन, अपवाद, या आपातकाल के नाम पर निलंबित किया जा सकता है। इतिहास बार-बार यह प्रदर्शित करता है कि संकट के क्षणों में, अधिकार पहले पीछे हटते हैं जबकि प्राधिकरण का विस्तार होता है। यह पैटर्न यह स्पष्ट करता है कि अधिकार शक्ति के विरोध में नहीं, बल्कि इसके ढांचे के भीतर कार्य करते हैं।

इस प्रकार, अधिकारों को बिना शर्त स्वतंत्रता के रूप में देखना एक सुखद भ्रम है। अधिकार मौजूद हैं, लेकिन वे नाजुक हैं। वे राज्य के खिलाफ नहीं, बल्कि राज्य के माध्यम से कार्य करते हैं।

इसके बाद, कानून को अक्सर एक नैतिक क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जैसे कि आज्ञाकारिता स्वयं में एक गुण है। नागरिकता की पाठ्यपुस्तकें, राजनीतिक भाषण, और कानूनी चर्चा मानती हैं कि नागरिक कानून का पालन करते हैं क्योंकि वे इसे वैध, न्यायपूर्ण, या सामाजिक रूप से आवश्यक मानते हैं। फिर भी न्यायशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान से गहरी विश्लेषण यह प्रकट करता है कि सहमति कभी-कभी आज्ञाकारिता का प्राथमिक चालक नहीं होती; बल्कि, यह शर्तबद्धता होती है। व्यक्ति कानून को इसलिए नहीं अपनाते क्योंकि वे इसके साथ सहमत होते हैं, बल्कि इसलिए कि बचपन से उन्हें सिखाया जाता है कि कानून स्वाभाविक, अनिवार्य, और नैतिक रूप से श्रेष्ठ है। दंड, सामाजिक बहिष्कार, या राज्य-स्वीकृत हिंसा का डर सबसे स्पष्ट तंत्र है।

जुर्माना, कारावास, पुलिस कार्रवाई, और कानूनी

उत्पीड़न कानून को एक तटस्थ नियम पुस्तिका से एक बलात्कारी संरचना में बदल देते हैं। हालांकि, आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ केवल डर पर निर्भर नहीं होतीं। यदि आज्ञाकारिता पूरी तरह से डर पर आधारित होती, तो प्रतिरोध अधिक स्पष्ट होता। इसलिए, कानून नैतिकता के साथ विलीन हो जाता है, ताकि आज्ञाकारिता आंतरिक रूप से चुनी हुई महसूस हो, न कि बाहरी रूप से लागू की गई।

सामाजिक शर्तबद्धता एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। स्कूल बच्चों को "अच्छे नागरिक" बनने के लिए सिखाते हैं, समयबद्धता, अनुशासन,

नियमों का पालन, और प्राधिकरण के प्रति सम्मान को नैतिक गुणों के रूप में स्थापित करते हैं। प्राधिकरण पर सवाल उठाना जिज्ञासा के रूप में नहीं, बल्कि अनुशासनहीनता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। परीक्षा और ग्रेडिंग प्रणाली अनुपालन को पुरस्कृत करती है और विचलन को दंडित करती है। इस प्रशिक्षण का अंतिम परिणाम यह है कि कानून को चुनौती देना अमोरल और असामाजिक लगता है, भले ही कानून स्वयं अन्यायपूर्ण हो।

सामाजिक अनुबंध सिद्धांत एक दार्शनिक औचित्य प्रदान करता है, जो आज्ञाकारिता को तर्कसंगत सहमति के रूप में ढालता है। व्यक्ति सामूहिक सुरक्षा के बदले में स्वेच्छा से कुछ स्वतंत्रताओं को छोड़ देते हैं। फिर भी, यह "स्वेच्छा" पहलू मुख्यतः काल्पनिक है। कोई भी व्यक्ति इस अनुबंध पर वास्तविक दुनिया में हस्ताक्षर नहीं करता, न ही कोई महत्वपूर्ण विकल्प बाहर निकलने का अस्तित्व है। कानून जन्म से स्वचालित रूप से लागू होता है, और सहमति को चुना नहीं बल्कि माना जाता है। इस प्रकार, सामाजिक अनुबंध दार्शनिक औचित्य के रूप में कार्य करता है न कि जीती-जागती वास्तविकता के प्रतिबिंब के रूप में।

उपयोगितावादी औचित्य कानून की आज्ञाकारिता को दक्षता के नाम पर और सामान्य बनाते हैं। अनुपालन को "महान भलाई" के लिए आवश्यक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, भले ही व्यक्तियों को अन्याय का सामना करना पड़े। हालांकि, यह तर्क शक्ति के असमानताओं की अनदेखी करता है: "महान भलाई" की परिभाषा अक्सर शासक संस्थानों द्वारा निर्धारित की जाती है, जबकि व्यक्तिगत असहमति को असुविधा या खतरे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक रूप से, आज्ञाकारिता आदत बन जाती है। मिलग्राम के प्रयोगों जैसे अध्ययन यह दर्शाते हैं कि व्यक्ति प्राधिकरण के साथ अनुपालन करते हैं, भले ही यह व्यक्तिगत नैतिकता के खिलाफ हो। वर्दी, अदालतें, और औपचारिक भाषा प्राधिकरण का एक आभामंडल बनाते हैं, जिम्मेदारी को व्यक्ति से प्रणाली की ओर स्थानांतरित करते हैं। "मैं बस नियमों का पालन कर रहा था" एक सामान्य नैतिक बचाव बन जाता है।

इसलिए, जब पूछा जाता है कि लोग कानून का पालन क्यों करते हैं, तो उत्तर को केवल डर, सहमति, या नैतिकता तक सीमित नहीं किया जा सकता। आज्ञाकारिता एक गहराई से इंजीनियर किया गया व्यवहार है: यह डर से शुरू होती है, शिक्षा के माध्यम से सामान्यीकृत होती है, और वैचारिक रूप से औचित्य प्रदान किया जाता है। यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि आज्ञाकारिता स्वतंत्रता की तरह महसूस होने लगती है।

सजा को अक्सर न्याय का स्वाभाविक विस्तार माना जाता है —जैसे कि कानून का उल्लंघन स्वाभाविक रूप से पीड़ा की मांग करता है। कानूनी प्रणालियाँ सजा को नैतिक दृष्टिकोण से औचित्य प्रदान करती हैं: अपराध के प्रति प्रतिक्रिया, पीड़ितों के लिए एक समापन, या समाज की सुरक्षा के रूप में। फिर भी, न्यायशास्त्र और आलोचनात्मक कानूनी सिद्धांत के माध्यम से निकटता से विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि सजा न्याय प्रदान करने का एक तटस्थ उपकरण नहीं है; यह आज्ञाकारिता को मजबूत करने और असहमति को दबाने का एक अनुशासित तंत्र है।

क्लासिकल प्रतिशोधात्मक सिद्धांत सजा को गलत करने वाले द्वारा उनके कार्यों के लिए नैतिक चुकता के रूप में समझता है। "आँख के बदले आँख" तर्क न्याय को संतुलन के रूप में प्रस्तुत करता है। हालांकि, यह सिद्धांत एक समस्याग्रस्त धारणा पर आधारित है: कि पीड़ा का आरोपण नैतिक संतुलन को बहाल कर सकता है। आधुनिक नैतिक ढांचे यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या जानबूझकर दर्द कभी न्याय का गठन कर सकता है, या यह केवल तर्कसंगत भाषा में ढका हुआ प्रतिशोध है।

निवारक सिद्धांत सजा को एक निवारक उपाय के रूप में औचित्य प्रदान करता है: सजा एक चेतावनी है, भविष्य के कानून तोड़ने को हतोत्साहित करने के लिए परिणामों के डर को स्थापित करता है। हालांकि, अनुभवजन्य साक्ष्य यह दिखाते हैं कि निवारक प्रभाव अधिकतर सजा की निश्चितता से प्रभावित होता है न कि उसकी गंभीरता से। कठोर दंड हाशिए पर पड़े समुदायों को असमान रूप से प्रभावित करते हैं, जबकि शक्तिशाली अभिनेता अक्सर सजा से बचते हैं या उसे बातचीत करते हैं। इस अर्थ में, सजा समानता के सिद्धांत को कमजोर

करती है।

अक्षम करने का सिद्धांत व्यक्तियों को समाज की सुरक्षा के लिए अलग करता है —जेलों, निरोध केंद्रों, और निगरानी के माध्यम से। फिर भी, यह दृष्टिकोण मानव beings को समस्याओं के स्रोत के रूप में मानता है न कि सामाजिक संदर्भों में भागीदारों के रूप में। अपराध को इसके आर्थिक, सामाजिक, और मनोवैज्ञानिक निर्धारकों से अलग किया जाता है, प्रणालीगत मुद्दों को व्यक्तिगत रोगविज्ञान में घटित किया जाता है। इस प्रकार, जेलें

पुनर्वास के स्थानों के बजाय सामाजिक बहिष्कार के गोदाम बन जाती हैं।

पुनर्वास सिद्धांत सजा को सुधार के एक उपकरण के रूप में प्रस्तुत करता है, जो सतह पर मानवता का प्रतीक लगता है। फिर भी, यह मानता है कि राज्य यह तय करता है कि कौन से व्यवहार "सामान्य" हैं और कौन से "विचलित" हैं। पुनर्वास अक्सर अनुपालन प्रशिक्षण बन जाता है: व्यक्तियों को प्रणाली के अनुकूल बनाया जाता है न कि प्रणालीगत अन्याय को चुनौती देने के लिए। व्यवहार में, सुधार आज्ञाकारिता बन जाता है न कि स्वायत्तता।

मिशेल फूको और समान विचारक यह बताते हैं कि दंड व्यापक अनुशासन और निगरानी के नेटवर्क में निहित है। आधुनिक दंड केवल शारीरिक नहीं है, बल्कि मनोवैज्ञानिक, नौकरशाही, और डिजिटल भी है। आपराधिक रिकॉर्ड, पृष्ठभूमि जांच, सामाजिक कलंक, और निरंतर संदेह दंड को सजा के पार बढ़ाते हैं। इस अर्थ में, दंड एक घटना नहीं है, बल्कि एक दीर्घकालिक पहचान है जो व्यक्तियों को उनके जीवन भर नियंत्रण में रखती है।

इस प्रकार, दंड को केवल अपराध के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में परिभाषित करना बौद्धिक रूप से अपर्याप्त है। दंड एक राजनीतिक तकनीक के रूप में कार्य करता है: यह असमानता को बनाए रखता है, असहमति को अनुशासित करता है, और आज्ञाकारिता को पुरस्कृत करता है। जब तक दंड को न्याय के नाम पर बिना सवाल उठाए स्वीकार किया जाता है, कानून अधिकतर एक शक्ति संरचना के रूप में कार्य करता है न कि एक नैतिक प्रणाली के रूप में। सच्चा न्याय तब शुरू होता है जब दंड को अनिवार्य के रूप में नहीं, बल्कि एक विकल्प के रूप में देखा जाता है—जो सवाल उठाता है:

किसकी सुरक्षा , किसका आदेश , और किसकी कीमत पर ?

न्याय को सामान्यतः कानून का अंतिम उद्देश्य माना जाता है। अदालतें , दंड , अधिकार और प्रक्रियाएँ सभी यह मानती हैं कि कानूनी प्रणाली का लक्ष्य न्याय प्रदान करना है। हालांकि , गंभीर जांच से यह स्पष्ट होता है कि न्याय न तो निश्चित है और न ही सार्वभौमिक रूप से सुलभ है। अधिक सटीक रूप से , न्याय एक बातचीत के रूप में उभरता है।

शक्ति संबंधों , संस्थागत सीमाओं और सामाजिक पदानुक्रमों के बीच परिणाम , न कि उनके ऊपर मौजूद।

पारंपरिक कानूनी विचार न्याय को तटस्थता और निष्पक्षता से जोड़ता है। "कानून के सामने समान उपचार " एक मौलिक वादा है। फिर भी , समानता प्रक्रियात्मक है , न कि सामग्रीगत। कानून समान रूप से लागू हो सकते हैं , लेकिन लोग कानून के प्रति समान सामाजिक स्थिति से नहीं आते हैं। वर्ग , जाति , लिंग , शिक्षा और संसाधनों तक पहुंच न्याय के अनुभव को मौलिक रूप से आकार देते हैं। न्याय का वादा अमूर्त है ; इसकी डिलीवरी गहराई से असमान है।

वितरणात्मक न्याय निष्पक्षता को संसाधनों और अवसरों के वितरण से जोड़ता है। हालांकि , कानूनी प्रणाली अक्सर वितरणों को चुनौती देने के बजाय उनकी रक्षा करती है। संपत्ति कानून , विरासत नियम और कॉर्पोरेट सुरक्षा मौजूदा असमानताओं को स्थिर करते हैं। जब असमानता को कानूनी ढांचों के माध्यम से सामान्यीकृत किया जाता है , तो न्याय पुनर्वितरण से व्यवस्था बनाए रखने की ओर स्थानांतरित हो जाता है। न्याय शक्तिशाली के लिए सुरक्षा बन जाता है और कमजोर के लिए अनुपालन।

प्रक्रियात्मक न्याय का दावा है कि निष्पक्ष प्रक्रियाएँ न्यायपूर्ण परिणाम उत्पन्न करती हैं। फिर भी प्रक्रियाएँ तटस्थ नहीं होतीं। भाषा की बाधाएँ , कानूनी जटिलता , देरी , लागत , और संस्थागत पूर्वाग्रह पहुँच को चयनात्मक बनाते हैं। अदालत का शिष्टाचार और तकनीकीता सामान्य नागरिकों को निष्क्रिय दर्शक बना देती है जबकि प्रशिक्षित पेशेवर कथा को नियंत्रित करते हैं। यहाँ , न्याय भागीदारी के बजाय समर्पण बन जाता है।

सुधारात्मक न्याय पीड़ितों के मुआवजे और

अपराधियों की जिम्मेदारी के माध्यम से नुकसान को ठीक करने का प्रयास करता है। फिर भी , आपराधिक न्याय प्रणाली अक्सर पीड़ितों को ठीक नहीं करती। पीड़ित मुकदमे के वस्तु बन जाते हैं , जिनकी पीड़ा राज्य के माध्यम से मध्यस्थता की जाती है। अपराधी दंड के माध्यम से प्रणालीगत समस्याओं को हल करते हैं , जबकि सामाजिक नुकसान अन addressed रहता है। यहाँ न्याय लेन -देन का बन जाता है , न कि संबंधात्मक।

महत्वपूर्ण कानूनी अध्ययन न्याय को विचारधारा के रूप में देखते हैं —एक नैतिक कथा जो कानून की शक्ति को वैधता प्रदान करती है। न्याय की भाषा प्रतिरोध को अवशोषित करती है : यहां तक कि विरोध भी केवल प्रक्रियात्मक प्रारूपों में स्वीकार्य है। कट्टरपंथी मांगों को मध्यम प्रक्रियात्मक दावों में अनुवादित किया जाता है, जिससे न्याय एक सुरक्षा वाल्व में बदल जाता है जो प्रणाली को महत्वपूर्ण चुनौती से बचाता है।

इसलिए, न्याय को एक आदर्श या भ्रांति के रूप में देखना अपर्याप्त है। न्याय गतिशील, विवादित और बातचीत का विषय है —यह मुक्ति और प्रभुत्व दोनों की सेवा कर सकता है। कानून न्याय को परिभाषित नहीं करता; यह तय करता है कि कौन सी अन्याय सहनीय हैं। सच्चा न्याय तब शुरू होता है जब हम कानून को न्याय के साथ समान नहीं करते और न्याय को एक निरंतर नैतिक संघर्ष के रूप में पहचानते हैं, जहाँ विवेक आज्ञाकारिता से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

कानून में शक्ति केवल बल के रूप में नहीं होती; यह परिभाषा में होती है। कानून यह निर्धारित करता है कि कौन से कार्य "कानूनी" या "गैर-कानूनी" हैं, कौन से मांगें "व्यवहार्य" या "अत्यधिक" हैं। ये सीमाएँ मनमानी नहीं हैं; ये प्रमुख सामाजिक हितों के साथ मेल खाती हैं। जब संपत्ति के उल्लंघनों को अपराधीकरण किया जाता है लेकिन शोषण कानूनी होता है, तो कानून शक्ति की रक्षा करता है, नैतिकता की नहीं। राजनीतिक विकल्प तटस्थ कानूनी शर्तों में निहित होते हैं।

कानूनी भाषा ठोस पीड़ा को अमूर्त करती है। “न्यायिक प्रक्रिया,” “सार्वजनिक व्यवस्था,” और “राष्ट्रीय हित” जैसे शब्द मानव परिणामों को

तकनीकी आवश्यकताओं में अनुवादित करते हैं। निष्कासन, छंटनी, हिरासत, और निगरानी को कानूनी कार्यों के रूप में सही ठहराया जाता है, भले ही उनका प्रभाव असमान और अक्सर अपरिवर्तनीय हो। कानून पीड़ा को अस्वीकार नहीं करता; यह इसे सामान्य बनाता है।

संस्थाएँ शक्ति को निर्बाध करती हैं। न्यायाधीश, पुलिस और प्रशासक कार्यकर्ताओं के रूप में प्रकट होते हैं, न कि व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार अभिनेताओं के रूप में। “मैं केवल कानून का पालन कर रहा हूँ” एक नैतिक ढाल बन जाती है, जो जवाबदेही को फैलाती है और हानि को अनाम बनाती है। शक्ति बिना चेहरे के काम करती है, जिससे प्रतिरोध करना कठिन हो जाता है।

कानून राजनीतिक परिणामों को राजनीतिक बहस के बिना निर्धारित करता है। चुनावी कानून प्रतिनिधित्व को आकार देते हैं, श्रम कानून बातचीत को सीमित करते हैं, और सुरक्षा कानून असहमति को अपराधी बनाते हैं—सभी प्रक्रिया के नाम पर। अवैधता पर बहस को पहले से रोककर, कानून राजनीति को पूर्वनिर्धारित ढांचों के भीतर सीमित करता है।

महत्वपूर्ण दृष्टिकोण यह तर्क करते हैं कि कानून का सबसे प्रभावी कार्य शक्ति को स्वाभाविक बनाना है। असमानता को राजनीतिक विफलता के रूप में नहीं, बल्कि कानूनी वास्तविकता के रूप में देखा जाता है। "कानून ऐसा कहता है" अंतिम उत्तर बन जाता है, न कि प्रारंभिक प्रश्न। कानून कल्पना को सीमित करता है—केवल वही समाधान जो कानूनी माने जाते हैं, सोचे जा सकते हैं।

इसलिए, कानून को केवल एक नियम पुस्तिका के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। कानून एक राजनीतिक संरचना है जो वास्तविकता को व्यवस्थित करती है, विकल्पों को सीमित करती है, और आज्ञाकारिता को सामान्य बनाती है।

आधुनिक कानूनी प्रणाली केवल क्रियाओं को नियंत्रित नहीं करती हैं; वे पहचान भी बनाती हैं। "अच्छे नागरिक" का विचार कानून के माध्यम से सूक्ष्मता से परिभाषित किया गया है - एक ऐसा व्यक्ति जो नियमों का पालन करता है, अनुपालन करता है, और विघटनकारी नहीं होता। यहाँ, नागरिकता केवल एक कानूनी स्थिति नहीं बल्कि एक नैतिक प्रमाणपत्र बन जाती है। जो लोग कानून का पालन करते हैं उन्हें "अच्छा" माना जाता है; जो लोग इसे प्रश्न करते हैं वे संदिग्ध बन जाते हैं। इस प्रक्रिया में, नैतिकता धीरे-धीरे वैधता में घटित हो जाती है।

एक अच्छे नागरिक का नैतिक कम्पास आंतरिक नहीं बल्कि बाह्य होता है—जो कानूनों, सूचनाओं और अनुमतियों के माध्यम से परिभाषित होता है। कानूनी अनुपालन नैतिक निर्णय को प्रतिस्थापित करता है। लोग यह पूछना बंद कर देते हैं कि क्या सही है और केवल यह ध्यान केंद्रित करते हैं कि क्या अनुमति है। नैतिक जिम्मेदारी व्यक्ति से प्रणाली की ओर स्थानांतरित हो जाती है। यदि कुछ कानूनी है, तो इसे नैतिक माना जाता है, चाहे इसके सामाजिक प्रभाव कितना भी हानिकारक क्यों न हो।

शिक्षा, मीडिया, और नौकरशाही मिलकर अच्छे नागरिक के प्रोटोटाइप को मजबूत करते हैं। पाठ्यपुस्तकें कानून का पालन करने वाले व्यवहार को नागरिक गुण के रूप में महिमामंडित करती हैं, जबकि नागरिक अवज्ञा को एक अपवाद या ऐतिहासिक विसंगति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विरोध प्रदर्शन को माना जाता है

केवल तभी सम्माननीय हैं जब वे अनुमति के साथ होते हैं, निर्धारित मार्गों का पालन करते हैं, और व्यवधान नहीं उत्पन्न करते हैं। प्रतिरोध को विनियमन के माध्यम से घरेलू बनाया जाता है।

इस मिथक का सबसे समस्याग्रस्त पहलू यह है कि कानूनीता को नैतिकता के लिए प्रतिस्थापित किया गया है। दासता, उपनिवेशीय शोषण, जाति आधारित भेदभाव, और लिंग उत्पीड़न ऐतिहासिक रूप से कानूनी थे, फिर भी "अच्छे नागरिक" की कथा ने उन्हें सामान्यीकृत कर दिया। जो लोग कानूनों का पालन करते थे, वे अपने आप को नैतिक मानते थे।

अच्छे नागरिक का मिथक असहमति को अवैध ठहराता है। जो लोग कानून के खिलाफ खड़े होते हैं, उन्हें असंगत, भावुक या समाज-विरोधी के रूप में लेबल किया जाता है। उनके तर्कों को सामग्री के बजाय प्रक्रियात्मक आधार पर अस्वीकार कर दिया जाता है। "गलत तरीके से सही" की तर्कशक्ति प्रतिरोध को नैतिक रूप से कमजोर बना देती है। इस तरह, प्रणालीगत परिवर्तन की मांगें प्रणाली के अपने नियमों में फंस जाती हैं।

नैतिकता

नैतिकता को आमतौर पर मानव समाज की नींव माना जाता है, जिसके माध्यम से "सही" और "गलत," "अच्छा" और "बुरा," "शुद्ध" और "अशुद्ध" जैसी श्रेणियाँ बनाई जाती हैं। लगभग हर समाज का दावा है कि उसकी नैतिक प्रणाली सार्वभौमिक, प्राकृतिक और मानव तर्क से निकली हुई है। नैतिकता को अक्सर मानव सभ्यता के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है — लगभग ऐसा जैसे, नैतिक नियमों के बिना, समाज अराजकता, हिंसा और अमानवीयता में गिर जाएगा। फिर भी, जबकि यह दावा सहज प्रतीत होता है, यह अत्यधिक संदिग्ध है। यदि नैतिकता वास्तव में सार्वभौमिक और प्राकृतिक होती, तो फिर हम समय, स्थान और संस्कृति के बीच नैतिक कोड में इतनी विशाल भिन्नताएँ क्यों देखते?

नैतिकता के साथ सबसे बड़ी समस्या इसकी परिभाषा में निहित है। जब हम कहते हैं "यह गलत है" या "यह सही है," तो अक्सर यह स्पष्ट नहीं होता कि हम उस दावे को किस आधार पर बनाते हैं। क्या आधार प्रकृति है? भगवान? तर्क? समाज? या शक्ति? अधिकांश मामलों में, आधार स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि नैतिकता को प्रश्न के परे एक आत्म-सिद्ध सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यदि हम ध्यान से देखें, तो नैतिकता प्रकृति का नियम नहीं है, बल्कि मानव समाज द्वारा निर्मित एक नियम पुस्तिका है। प्रकृति "अच्छा" और "बुरा" के बीच भेद नहीं करती। नैतिकता केवल तब उत्पन्न होती है जब सामाजिक जीवन मौजूद होता है। यह एक प्राकृतिक सत्य नहीं है, बल्कि एक सामाजिक निर्माण है।

इतिहास दिखाता है कि नैतिकता स्थिर नहीं रही है।

एक युग में नैतिक माने जाने वाले कार्यों को दूसरे में अमोरल घोषित किया गया। दासता को कभी नैतिक और प्राकृतिक माना गया ; आज इसे अमानवीय अपराध माना जाता है। महिलाओं को शिक्षा से वंचित करना , जाति भेदभाव , धार्मिक हिंसा —ये सभी कभी "नैतिक कर्तव्यों " के रूप में प्रस्तुत किए गए थे। यदि नैतिकता वास्तव में शाश्वत और अपरिवर्तनीय होती ,

तो ऐसे परिवर्तन संभव नहीं होते। नैतिकता का बदलना इस बात का प्रमाण है कि यह समय और शक्ति संरचनाओं के साथ अनुकूलित होती है।

नैतिकता को अक्सर "मानव तर्क की आवाज" कहा जाता है, लेकिन यह भ्रामक है। तर्क व्यक्तिगत होता है, जबकि नैतिकता सामूहिक नियम बन जाती है। जब एक समाज किसी व्यवहार को नैतिक घोषित करता है, तो यह केवल सुझाव नहीं देता—यह अनुपालन की अपेक्षा करता है। इस अर्थ में, नैतिकता सामूहिक अनुशासन का एक साधन बन जाती है, स्वतंत्र तर्क नहीं। यदि कोई व्यक्ति इससे असहमत होता है, तो उसे अपराध, शर्म, बहिष्कार या दंड का सामना करना पड़ता है।

इस प्रकार, नैतिकता केवल सही और गलत का ज्ञान नहीं देती, बल्कि व्यवहार को नियंत्रित करने का एक शक्तिशाली उपकरण बन जाती है। नैतिकता अक्सर संस्कृति से जुड़ी होती है। हमें बताया जाता है, "यह हमारी संस्कृति के खिलाफ है" या "यह हमारी परंपरा के अनुसार गलत है।" फिर भी संस्कृति स्वयं एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, कोई स्थिर सत्य नहीं। संस्कृति शक्ति, संसाधनों और प्रभुत्व के साथ विकसित होती है। प्रभावशाली वर्ग या समूह की नैतिकता "सामाजिक नैतिकता" बन जाती है। इसलिए, नैतिकता कभी भी तटस्थ नहीं होती; यह शक्ति संरचनाओं को दर्शाती है।

यह भी महत्वपूर्ण है कि नैतिकता अक्सर चयनात्मक होती है। वही समाज जो चोरी को अमोरल घोषित करता है, युद्ध के दौरान लूट को वीरता के रूप में महिमामंडित करता है। वही संस्कृति जो हत्या को पाप मानती है, राष्ट्र के लिए हत्या को एक महान बलिदान कह सकती है। यह दिखाता है कि नैतिकता हितों और पहचान के अनुसार बदलती है, सत्य के अनुसार नहीं। यह लचीलापन

नैतिकता को नैतिक से अधिक राजनीतिक बनाता है।

नैतिकता की एक और विशेषता यह है कि यह व्यक्ति को उनके संदर्भ से अलग कर देती है। जब किसी क्रिया को नैतिक या अमोरल घोषित किया जाता है, तो परिस्थितियों, मजबूरी, सामाजिक दबाव और ऐतिहासिक कारणों को अक्सर नजरअंदाज किया जाता है। व्यक्ति को अकेले दोषी ठहराया जाता है, जबकि वे जिन संरचनाओं के भीतर कार्य करते हैं, वे अदृश्य रहती हैं। इस प्रकार, नैतिकता संरचनात्मक अन्याय को छिपाने का एक उपकरण बन जाती है।

यह कहना आवश्यक नहीं है कि नैतिकता पूरी तरह से निरर्थक है। समस्या इसकी उपस्थिति नहीं है, बल्कि इसकी पवित्रता है। जब नैतिकता को अंतिम सत्य घोषित किया जाता है, तो इसे प्रश्न पूछने से परे रखा जाता है। और जो कुछ भी प्रश्न पूछने से परे है, वह उत्पीड़न का एक उपकरण बन सकता है। नैतिकता खतरनाक हो जाती है जब यह मानवता के नाम पर प्रस्तुत होती है, फिर भी वास्तव में शक्ति की रक्षा करती है।

मनुष्य लाखों वर्षों तक छोटे जनजातियों और समूहों में रहते थे। प्रारंभिक मानव समाजों में, व्यक्तिगत शक्ति के माध्यम से जीवित रहना संभव नहीं था, बल्कि समूह सहयोग के माध्यम से था। एक अकेला मानव जंगली में कमजोर था—न तो सबसे तेज, न सबसे मजबूत, और न ही सबसे खतरनाक। लेकिन एक समूह में रहकर, नियमों का पालन करके, और एक-दूसरे पर भरोसा करके, जीवित रहना संभव हो गया। यहीं पर नैतिकता के मूल विचार विकसित हुए। समूह के जीवित रहने का समर्थन करने वाले व्यवहारों को "अच्छा" माना गया। समूह को खतरे में डालने वाले व्यवहारों को "बुरा" घोषित किया गया।

इस संदर्भ में, नैतिकता एक सत्य-आधारित प्रणाली नहीं थी, बल्कि एक उपयोगिता-आधारित प्रणाली थी। विकास को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि कुछ नैतिक रूप से सही था या गलत; यह केवल इस बात से संबंधित था कि व्यवहार ने जीवित रहने की संभावनाओं को बढ़ाया या घटाया। इसलिए ईमानदारी, वफादारी, आज्ञाकारिता, और बलिदान जैसे गुण नैतिक गुण बन गए क्योंकि उन्होंने समूह को स्थिर और पूर्वानुमानित बनाया। इसके विपरीत, विश्वासघात, स्वार्थ, असहमति, और नियमों का उल्लंघन अमोरल माना गया क्योंकि वे समूह की एकता को खतरे में डालते थे।

विकासात्मक मनोविज्ञान दिखाता है कि कुछ नैतिक प्रवृत्तियाँ हमारे मस्तिष्क में हार्डवायर की गई हैं —जैसे कि निष्पक्षता की भावना, धोखेबाजों पर क्रोध, और नियम तोड़ने वालों को दंडित करने की इच्छा। ये प्रवृत्तियाँ सचेत दर्शन का उत्पाद नहीं हैं, बल्कि प्राकृतिक चयन का परिणाम हैं। जो जनजातियाँ नियम तोड़ने वालों को दंडित नहीं करती थीं, वे आंतरिक रूप से अस्थिर हो गईं और अधिक संगठित समूहों से हार गईं।

इस संदर्भ में, दंड की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। दंड का मुख्य उद्देश्य न्याय नहीं था, बल्कि निरोध था। इसने यह संदेश भेजा कि नियम तोड़ने के लिए कीमत चुकानी पड़ती है। इसलिए नैतिकता डर के साथ जुड़ गई—शर्म, अपराधबोध, और सामाजिक बहिष्कार। ये भावनात्मक उपकरण बिना औपचारिक कानून के व्यवहार को नियंत्रित करते थे।

यहाँ हम नैतिकता और आज्ञाकारिता के बीच गहरे संबंध को देखते हैं। आज्ञाकारिता आकस्मिक नहीं थी; यह एक विकासात्मक आवश्यकता थी। जो अधिक आज्ञाकारी थे, वे समूह में जीवित रहे; विद्रोही अलग-थलग या समाप्त कर दिए गए। समय के साथ, आज्ञाकारिता एक गुण बन गई, और अवज्ञा अमोरल बन गई। एक और बिंदु स्पष्ट है: नैतिकता हमेशा समूह-आधारित रही है। नैतिक नियम "हमारे अपने" के लिए सख्त थे, और बाहरी लोगों के लिए ढीले या उल्टे थे।

हत्या गलत थी—लेकिन केवल समूह के भीतर। बाहरी लोगों को मारना या लूटना गलत नहीं माना जाता था; कभी-कभी यह नायकत्व था। यह दोहरा मानक पाखंड नहीं था, बल्कि एक विकासात्मक तर्क था। नैतिकता कभी भी सार्वभौमिक नहीं थी; यह हमेशा सीमाओं के साथ आई—जनजाति, कबीला, जाति, धर्म, राष्ट्र।

जैसे-जैसे समाज जटिल होते गए, नैतिकता संस्थागत हो गई। प्रारंभ में यह अनौपचारिक थी, जो रीति-रिवाजों और परंपराओं के माध्यम से लागू की गई। बाद में, धर्म ने इसे संहिताबद्ध किया, और राज्य ने इसे कानून के रूप में औपचारिक रूप दिया। लेकिन इसका विकासात्मक मूल वही रहा: "प्रणाली की स्थिरता के लिए व्यवहार नियंत्रण।"

नैतिक भाषा का विकास भी महत्वपूर्ण है। "अच्छा" और "बुरा" जैसे शब्द तटस्थ वर्णनकर्ता नहीं थे,

बल्कि भावनात्मक लेबल थे जो तर्क को दरकिनार करने और तात्कालिक प्रतिक्रियाओं को उत्तेजित करने के लिए डिज़ाइन किए गए थे। जब किसी व्यवहार को "बुरा" कहा जाता है, तो तर्कसंगत चर्चा कठिन हो जाती है। यह एक विकासात्मक शॉर्टकट है: जल्दी कार्य करें, अधिक न सोचें।

इसलिए नैतिकता अक्सर तर्क के खिलाफ काम करती है। जब समूह को खतरा महसूस होता है, तो नैतिक आतंक उत्पन्न होता है। तर्क धीमा है; नैतिकता तेज है।

विकास ने नैतिकता को तेज़ बना दिया क्योंकि जीवित रहने के लिए गति महत्वपूर्ण थी, न कि सटीकता।

आधुनिक समाज में, वही नैतिकता खतरनाक हो जाती है। एक प्रणाली जो कभी जीवित रहने के लिए डिज़ाइन की गई थी, अब शक्ति के लिए उपयोग की जाती है। राज्य, धर्म और विचारधाराएँ हमारे विकासात्मक नैतिक बटन को दबाती हैं ताकि आज्ञाकारिता निकाली जा सके। अपराध, शर्म, गर्व, सम्मान —ये नैतिक भावनाएँ जैविक रूप से गहराई से निहित हैं।

इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्य क्रूर हैं; इसका मतलब है कि नैतिकता स्वाभाविक रूप से तटस्थ नहीं है। यह आसानी से शक्ति के साथ संरेखित हो जाती है क्योंकि इसका विकासात्मक कार्य व्यवहार को नियंत्रित करना था।

यदि नैतिकता वास्तव में सार्वभौमिक होती, तो यह समय, संस्कृति या शक्ति के साथ नहीं बदलती। फिर भी हम देखते हैं कि जैसे-जैसे आर्थिक और राजनीतिक संरचनाएँ बदलती हैं, नैतिकता अपडेट होती है। जो कल अमोरल था, वह आज स्वीकार्य हो सकता है; जो आज नैतिक है, वह कल शर्मनाक हो सकता है। यह लचीलापन ताकत का संकेत नहीं है, बल्कि नैतिकता की निर्मित प्रकृति का संकेत है।

इस प्रकार, विकासात्मक दृष्टिकोण से, नैतिकता का अध्ययन खतरनाक और मुक्तिदायक दोनों है। खतरनाक क्योंकि यह पवित्र मिथकों को तोड़ता है; मुक्तिदायक क्योंकि यह नैतिकता पर सवाल उठाने का अधिकार देता है। यदि नैतिकता एक मानव जीवित रहने की रणनीति है, तो हम इसे फिर से डिज़ाइन कर सकते हैं—हानि को कम करने के लिए, न कि आज्ञाकारिता को लागू करने के लिए।

नैतिकता का अंधाधुंध पालन करना स्वाभाविक लग

सकता है , लेकिन यह नैतिक रूप से उचित नहीं है। जो विकास ने बनाया , उसके नाम पर रक्षा करना गलत है। विकास ने बलात्कार , हिंसा और प्रभुत्व भी उत्पन्न किया —लेकिन हम उन्हें नैतिक नहीं कहते। इसी तरह , नैतिकता को पवित्र नहीं होना चाहिए , बल्कि जवाबदेह होना चाहिए।

जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं , वह इस विशाल ब्रह्मांड का एक सूक्ष्म भाग है। हमारा ग्रह एक औसत तारे —सूर्य के चारों ओर घूमने वाला एक छोटा सा धूल का कण है। और सूर्य स्वयं विशेष नहीं है ; हमारे गैलेक्सी में ऐसे अरबों तारे हैं। हमारा गैलेक्सी अद्वितीय नहीं है ; अवलोकनीय ब्रह्मांड में अरबों गैलेक्सी मौजूद हैं।

इस अकल्पनीय विशालता की तुलना में, मानव अस्तित्व लगभग अदृश्य है।

ब्रह्मांड अरबों वर्षों से अस्तित्व में है। तारे बनते और विस्फोट करते हैं, गैलेक्सी टकराते हैं—सभी बिना किसी इरादे या नैतिक चिंता के। मनुष्य केवल कुछ हजार वर्षों पहले प्रकट हुए। यदि ब्रह्मांड एक 24-घंटे की घड़ी होती, तो मानव सभ्यता अंतिम कुछ सेकंड में प्रकट होती। यह विश्वास करना कि ब्रह्मांड हमारे लिए बनाया गया था, जिसमें नैतिकता इसके केंद्र में लिखी गई है, वैज्ञानिक नहीं है; यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्षिप्ति है। यह बचकानी घमंड है, जो हमारी नाजुकता को स्वीकार करने से बचने के लिए बनाई गई है।

हम प्रकृति के बाहर विशेष पर्यवेक्षक नहीं हैं। हम इसका हिस्सा हैं। पेड़ों, जानवरों और कीड़ों की तरह, मनुष्य जैविक जीव हैं। हमारे शरीर उसी रासायनिक तत्वों से बने हैं जो तारों में उत्पन्न होते हैं: कार्बन, ऑक्सीजन, लोहा, कैल्शियम। हम सचमुच तारे की धूल हैं, प्राकृतिक कानूनों से परे जादुई रचनाएँ नहीं हैं। हम विकास का परिणाम हैं—एक लंबी, धीमी, अंधी प्रक्रिया जो जीवित रहने के लिए है, नैतिकता के लिए नहीं।

विकास के पास कोई नैतिक कंपास नहीं है। यह नहीं पूछता कि कौन अच्छा है या बुरा; यह केवल "देखता" है कि कौन जीवित रहता है और प्रजनन करता है। यदि सहयोग जीवित रहने में मदद करता है, तो सहयोग विकसित होता है; यदि आक्रामकता मदद करती है, तो आक्रामकता विकसित होती है। दोनों प्रकृति के लिए समान रूप से मान्य हैं। यह मान लेना कि नैतिकता प्रकृति के डिज़ाइन का हिस्सा है, एक मौलिक गलतफहमी है। यह समझना महत्वपूर्ण है: प्रकृति को परवाह नहीं है—

हमारी खुशी , दुख या नैतिकता के बारे में।

प्रकृति में अच्छा और बुरा नहीं होता। ये मानव के विचार हैं। हम इन लेबलों का उपयोग वास्तविकता को व्यवस्थित करने , व्यवहार को नियंत्रित करने और समाज को स्थिर करने के लिए करते हैं। लेकिन जब हम इन लेबलों को ब्रह्मांडीय सत्य के रूप में ऊंचा करते हैं , तो समस्याएँ शुरू होती हैं।

पहचान और गर्व

जैसे 'पहचान' और 'गर्व' जैसे शब्दों का उपयोग आधुनिक समाज में इतना सामान्य हो गया है कि उनके अर्थ अक्सर स्वाभाविक रूप से समझे जाते हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि पहले यह स्पष्ट किया जाए कि पहचान से क्या तात्पर्य है। सामान्य समझ में, पहचान उस प्रश्न का उत्तर है, "मैं कौन हूँ?" हालाँकि, यह उत्तर अधिकतर सामूहिक होता है न कि व्यक्तिगत — जैसे धर्म, जाति, राष्ट्र, भाषा, लिंग, या संस्कृति। यह दर्शाता है कि पहचान कम आत्म-चयनित होती है और अधिक सामाजिक रूप से निर्धारित होती है।

शैक्षणिक समाजशास्त्र और मानवशास्त्र यह दर्शाते हैं कि पहचान एक प्राकृतिक या जैविक इकाई नहीं है, बल्कि एक सामाजिक निर्माण है। जन्म के समय, एक मानव केवल एक जैविक जीव होता है; उस व्यक्ति को "हिंदू," "मुस्लिम," "ब्राह्मण," "भारतीय," या "बंगाली" में बदलना समाज और इसके संस्थानों का कार्य है। पहचान उस प्रक्रिया को संदर्भित करती है जिसके माध्यम से समाज व्यक्तियों को पूर्वनिर्धारित श्रेणियों में फिट करता है।

इस बिंदु पर, एक महत्वपूर्ण भेद को समझा जाना चाहिए:

1. "व्यक्तिगत पहचान": व्यक्तिगत अनुभवों, विकल्पों और चेतना के माध्यम से निर्मित।
2. "सामूहिक पहचान": जन्म, वंश, भूगोल, या परंपरा के आधार पर निर्धारित।

यह अध्याय मुख्य रूप से सामूहिक पहचान पर केंद्रित है, क्योंकि यह शक्ति संरचनाओं के लिए कहीं अधिक उपयोगी है।

पहचान को अक्सर "प्राकृतिक" के रूप में प्रस्तुत

किया जाता है —उदाहरण के लिए, धर्म या राष्ट्र को कालातीत और शाश्वत के रूप में चित्रित किया जाता है। हालाँकि, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक साक्ष्य दिखाते हैं कि ये पहचानें अपेक्षाकृत हाल की विकास हैं। राष्ट्र-राज्य केवल कुछ शताब्दियों पुराने हैं। संगठित धर्म विशेष ऐतिहासिक संदर्भों के भीतर उभरे।

जाति प्रणाली को विशेष ऐतिहासिक अवधियों के दौरान व्यवस्थित रूप से कठोर किया गया था।

इसलिए, पहचान को "प्राकृतिक" कहना एक वैचारिक दावा है, न कि वैज्ञानिक। किसी चीज़ को प्राकृतिक के रूप में लेबल करना इसे सवाल करने से परे रखता है। हालांकि, पहचान में ऐसी कोई प्रकृति नहीं होती। निर्मित पहचान की सबसे स्पष्ट विशेषताएँ हैं कि इसे जन्म के समय सौंपा जाता है, इससे बाहर निकलने पर सामाजिक दंड आते हैं, और इसे सवाल करना अपमानजनक माना जाता है। मिलकर, ये तीन विशेषताएँ पहचान को नियंत्रण के एक शक्तिशाली तंत्र में बदल देती हैं।

अब गर्व की जांच करना आवश्यक है। गर्व को आमतौर पर एक सकारात्मक भावना के रूप में देखा जाता है—जो आत्म-विश्वास, गरिमा, या आत्म-सम्मान से जुड़ा होता है। हालांकि, शैक्षणिक विश्लेषण गर्व को एकल भावना के रूप में नहीं मानता। इसके बजाय, यह गर्व के दो मौलिक रूपों के बीच अंतर करता है, प्रत्येक के अलग मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक परिणाम होते हैं।

पहला रूप "आत्म-सम्मान" (स्वस्थ आत्म-विश्वास) है। यह एक व्यक्ति के अपने कार्यों, प्रयासों और नैतिक विकल्पों के माध्यम से विकसित होता है। यह अर्जित, चिंतनशील, और व्यक्तिगत जिम्मेदारी से जुड़ा होता है। इसे दूसरों के साथ तुलना की आवश्यकता नहीं होती, न ही यह किसी और को कमतर करने पर निर्भर करता है।

दूसरा रूप "समूह गर्व" (सामूहिक अहंकार) है। यह विरासत में मिली पहचान से जुड़ा होता है—जैसे जन्म, वंश, समुदाय, राष्ट्र, या संस्कृति—बिना किसी व्यक्तिगत उपलब्धि के। यह गर्व प्रयास-आधारित नहीं बल्कि जन्म-आधारित होता है। इस अध्याय में आलोचना समूह गर्व पर केंद्रित है, न कि आत्म-सम्मान

पर।

समूह गर्व की मूल तर्क यह है : "मैं विशेष हूं क्योंकि मैं एक विशेष समूह से संबंधित हूं।" इस तर्क के भीतर, व्यक्तिगत merit अप्रासंगिक हो जाता है। गर्व का स्रोत व्यक्तिगत क्रिया से सामूहिक पहचान की ओर स्थानांतरित हो जाता है। परिणामस्वरूप, गर्व बिना प्रयास के प्राप्त होता है और बिना जिम्मेदारी के बचाव किया जाता है।

गर्व का कार्य केवल खुशी या आत्म-विश्वास प्रदान करने तक सीमित नहीं है। यह एक गहरे मनोवैज्ञानिक भूमिका निभाता है—अहंकार की सुरक्षा। जब किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन असुरक्षित होता है—आर्थिक अस्थिरता, सामाजिक हाशिए पर होना, या व्यक्तिगत उपलब्धि की कमी के कारण—समूह गर्व भावनात्मक मुआवजे के रूप में कार्य करता है। यह वास्तविक समस्याओं को संबोधित किए बिना अस्थायी मनोवैज्ञानिक स्थिरता प्रदान करता है।

यह पैटर्न यह समझाता है कि क्यों इतिहास बार-बार दिखाता है कि जिन क्षेत्रों में भौतिक असुरक्षा अधिक होती है, वे अक्सर पहचान-आधारित गर्व के अधिक आक्रामक रूपों का प्रदर्शन करते हैं। गर्व व्यक्तियों को यह महसूस करने की अनुमति देता है कि भले ही उनकी व्यक्तिगत स्थिति कमजोर हो, उनकी पहचान "महान" है। व्यक्तिगत विफलता सामूहिक महानता द्वारा ढक दी जाती है।

जब गर्व पहचान से स्थायी रूप से जुड़ जाता है, तो पहचान केवल एक लेबल नहीं रह जाती। यह व्यक्ति का भावनात्मक केंद्र बन जाती है। इस चरण में, पहचान पर सवाल उठाना अब एक तार्किक या बौद्धिक अभ्यास नहीं बल्कि एक भावनात्मक खतरा बन जाता है। आलोचना को एक हमले के रूप में अनुभव किया जाता है।

प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि आलोचना को अपमान के रूप में, असहमति को शत्रुता के रूप में, और सुधार को विश्वासघात के रूप में देखा जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे तार्किक सोच को अवरुद्ध कर देती है। व्यक्ति अपनी पहचान की रक्षा करने लगते हैं, भले ही यह वस्तुनिष्ठ रूप से हानिकारक, असंगत, या दमनकारी हो।

संविधान की सबसे महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि

पहचान और गर्व राजनीतिक रूप से तटस्थ नहीं होते। दोनों शक्ति के लिए कच्चे माल के रूप में कार्य करते हैं। पहचान लोगों को निश्चित श्रेणियों में विभाजित करती है, और गर्व उन श्रेणियों के प्रति भावनात्मक निष्ठा जोड़ता है।

यह संयोजन शक्ति संरचनाओं को तीन प्रमुख लाभ प्रदान करता है। पहले, लोग स्वेच्छा से अपने आप को विभाजित करते हैं। दूसरे, प्राधिकरण और प्रणालियों पर सवाल उठाने के बजाय, लोग अपनी पहचान की रक्षा में अपनी ऊर्जा लगाते हैं। तीसरे, लोग प्रतीकात्मक और भावनात्मक संघर्षों में उलझ जाते हैं बजाय इसके कि वे ध्यान केंद्रित करें।

शिक्षा , स्वास्थ्य देखभाल , और असमानता जैसे वास्तविक सामग्री मुद्दों पर।

विकासात्मक साक्ष्यों के अनुसार , 'होमो सैपियन्स ' के इतिहास का अधिकांश समय छोटे शिकारी - इकट्ठा करने वाले समूहों में व्यतीत हुआ। ये समूह आमतौर पर लगभग 30 से 150 व्यक्तियों के होते थे — जिसे मानवविज्ञानी रॉबिन डनबर ने 'डनबार का नंबर ' के रूप में परिभाषित किया। इस पैमाने पर , सामाजिक जीवन पूरी तरह से प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत था। सभी एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते थे , सामाजिक भूमिकाएँ लचीली थीं , सहयोग जीवित रहने के लिए आवश्यक था , और पदानुक्रम अस्थायी और परिस्थितिजन्य थे।

इस संदर्भ में , "पहचान " एक प्रतीकात्मक या अमूर्त अवधारणा नहीं थी। न कोई धर्म था , न कोई राष्ट्र , न कोई जाति। एक व्यक्ति को परिभाषित करना व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर देना था : कौन उपयोगी है ? कौन विश्वसनीय है ? कौन सहयोग करता है ? पहचान प्रदर्शन और व्यवहार पर आधारित थी , न कि जन्म या अमूर्त लेबल पर।

यह एक मौलिक निष्कर्ष की ओर ले जाता है : मानव मस्तिष्क पहचान के लिए विकसित नहीं हुआ , बल्कि सहयोग और जीवित रहने के लिए। विकासात्मक मनोविज्ञान यह मानता है कि मनुष्यों में एक समूह /बाहरी समूह के बीच भेदभाव करने की प्रवृत्ति होती है। हालाँकि , इस प्रवृत्ति का मूल कार्य सीमित था —तत्काल खतरों का पता लगाना , संसाधनों की प्रतिस्पर्धा का प्रबंधन करना , और तेजी से विश्वास निर्णय लेना।

यह प्रवृत्ति छोटे , आमने-सामने के समूहों के लिए विकसित हुई। जब इसी प्रवृत्ति को आधुनिक समाजों पर

लागू किया जाता है —जो लाखों या यहां तक कि अरबों लोगों से मिलकर बने होते हैं —तो समस्याएं उत्पन्न होती हैं। आधुनिक पहचानें अमूर्त और प्रतीकात्मक होती हैं, जो उन लोगों के प्रति वफादारी की मांग करती हैं जिनसे व्यक्ति ने कभी व्यक्तिगत रूप से मुलाकात नहीं की। यह एक 'विकासात्मक असंगति' का प्रतिनिधित्व करता है: एक प्राचीन मस्तिष्क तंत्र को एक सामाजिक पैमाने पर लागू किया जा रहा है जिसके लिए इसे कभी डिज़ाइन नहीं किया गया था।

कृषि का आगमन विकासात्मक इतिहास में एक प्रमुख मोड़ था। खाद्य अधिशेष ने स्थायी बस्तियों, तेज जनसंख्या वृद्धि, स्थिर पदानुक्रम और

कुछ लोगों के हाथों में संसाधन नियंत्रण। इस चरण में, प्रत्यक्ष व्यक्तिगत विश्वास की पुरानी प्रणाली ढह गई। शक्ति को अब बड़े जनसंख्याओं का प्रबंधन करने के लिए नए उपकरणों की आवश्यकता थी। यहीं पर प्रतीकात्मक पहचान प्रणालियाँ—जैसे जाति, धर्म, वंश, और बाद में राष्ट्रीयता—उभरीं।

गर्व एक भावना है जो मूल रूप से अनुकूलनशील थी। विकासात्मक दृष्टिकोण से, गर्व ने उपलब्धियों को मजबूत करने, सामाजिक स्थिति का संकेत देने और सहयोगात्मक व्यवहार को पुरस्कृत करने का कार्य किया। हालाँकि, यह गर्व व्यक्तिगत उपलब्धियों से जुड़ा था—सफल शिकार, कौशल विकास, समूह की सुरक्षा, या महत्वपूर्ण योगदान। आधुनिक पहचान-आधारित गर्व इस तर्क को उलट देता है।

यह गर्व का रूप विकासात्मक रूप से अर्थपूर्ण नहीं है; यह मनोवैज्ञानिक रूप से व्यसनकारी है। मस्तिष्क बिना प्रयास के उपलब्धि से संबंधित डोपामाइन प्राप्त करता है। यही कारण है कि पहचान का गर्व इतनी आसानी से फैलता है—यह बिना काम के पुरस्कार प्रदान करता है।

आधुनिक न्यूरोसाइंस दिखाता है कि पहचान गर्व मस्तिष्क के पुरस्कार प्रणाली को सक्रिय करता है। समूह मान्यता लाइक्स, नारे, गाने और प्रतीकों के माध्यम से डोपामाइन रिलीज को ट्रिगर करती है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति पहचान सुदृढ़ीकरण पर भावनात्मक रूप से निर्भर हो जाते हैं। साथ ही, जब पहचान को खतरे के रूप में देखा जाता है, तो एमिग्डाला सक्रिय होता है, तार्किक प्रक्रिया दबाई जाती है, और लड़ाई या भागने की प्रतिक्रिया शुरू होती है।

यही कारण है कि पहचान की आलोचना तार्किक बहस

नहीं रह जाती और यह एक अस्तित्वगत खतरा बन जाती है। मस्तिष्क के लिए, इसे अस्तित्व के लिए एक मुद्दे के रूप में अनुभव किया जाता है, चाहे कोई वास्तविक खतरा मौजूद हो या नहीं।

विकासात्मक दृष्टिकोण से, मानव मस्तिष्क सरलता को पसंद करता है। जटिल वास्तविकताएँ—जैसे आर्थिक प्रणाली, संरचनात्मक असमानता, या ऐतिहासिक बारीकियाँ—ज्ञानात्मक रूप से महंगी होती हैं। पहचान सरल, भावनात्मक रूप से संतोषजनक व्याख्याएँ प्रदान करती है: “हम अच्छे हैं,” “वे बुरे हैं,” और “कोई और हमारे दुख के लिए जिम्मेदार है।”

यह सरलता मस्तिष्क की विकासात्मक सीमाओं के भीतर आराम से फिट बैठती है। परिणामस्वरूप, पहचान आधारित व्याख्याएँ लोकप्रियता प्राप्त करती हैं, भले ही वे तथ्यात्मक रूप से गलत हों।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बिंदु को पहचाना जाना चाहिए: जो एक बार विकासात्मक रूप से अनुकूल था, वह आधुनिक समाज में विनाशकारी बन गया है। पहचान गर्व की लागत केवल मनोवैज्ञानिक नहीं है; यह बड़े पैमाने पर हिंसा, नरसंहार, धार्मिक युद्ध, राष्ट्रवादी संघर्ष, और प्रणालीगत भेदभाव के रूप में प्रकट होती है।

ये मूल रूप से छोटे जनजातीय संघर्षों के बड़े संस्करण हैं, जहाँ नुकसान तेजी से बढ़ता है। मस्तिष्क वही रहता है, लेकिन शक्ति और हथियार बदल गए हैं।

मनुष्य मौलिक रूप से सामाजिक जीव हैं। मनोवैज्ञानिक अनुसंधान दिखाता है कि संबंध होना एक बुनियादी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है—खाने और सुरक्षा के समान। जब व्यक्ति महसूस करते हैं कि वे एक समूह से संबंधित हैं, तो वे भावनात्मक सुरक्षा का अनुभव करते हैं। पहचान सीधे इस बुनियादी आवश्यकता को संबोधित करती है।

हालांकि, एक महत्वपूर्ण भेद है। संबंध होना स्वीकार किए जाने का अर्थ है, जबकि पहचान का अर्थ वर्गीकृत होना है। आधुनिक समाज संबंध प्रदान नहीं करते; वे वर्गीकरण प्रदान करते हैं। पहचान वास्तविक मानव संबंध के बिना संबंध का 'भ्रम' उत्पन्न करती है। यह भ्रम ही पहचान को मनोवैज्ञानिक रूप से इतना प्रभावी बनाता है।

सामाजिक पहचान सिद्धांत (हेनरी ताजफेल) बताता है कि व्यक्ति समूह की सदस्यता के माध्यम से आत्म-छवि

कैसे बनाते हैं। कई लोगों के लिए , “मैं कौन हूँ ?” का उत्तर “हम कौन हैं ?” से निकाला जाता है।

यह प्रक्रिया तीन मुख्य चरणों में शामिल होती है। पहला है 'श्रेणीकरण ', जिसमें लोग खुद को और दूसरों को सामाजिक श्रेणियों में विभाजित करते हैं। दूसरा है 'पहचान ', जहाँ व्यक्ति अपनी श्रेणी के प्रति भावनात्मक जुड़ाव बनाते हैं। तीसरा है 'तुलना ', जिसमें अपनी श्रेणी को दूसरों से श्रेष्ठ के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यहीं गर्व उभरता है। गर्व तुलना से उत्पन्न होता है, और तुलना बिना पदानुक्रम के असंभव है। परिणामस्वरूप, पहचान आधारित गर्व लगभग हमेशा किसी न किसी रूप में श्रेष्ठता का संकेत देता है।

गर्व का प्राथमिक मनोवैज्ञानिक कार्य आत्म-सुरक्षा है। जब किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन आर्थिक अस्थिरता, कम सामाजिक सम्मान, या व्यक्तिगत उपलब्धियों की कमी से प्रभावित होता है, तो आत्मा कमजोर हो जाती है। इस कमजोरी को प्रबंधित करने के लिए, मन समूह गर्व की ओर मुड़ता है। समूह गर्व व्यक्ति को यह महसूस करने की अनुमति देता है: "मैं व्यक्तिगत रूप से कमजोर हो सकता हूँ, लेकिन मेरी पहचान मजबूत है।"

यह मुआवजा अस्थायी है, फिर भी भावनात्मक रूप से शक्तिशाली है। यही कारण है कि पहचान का गर्व मनोवैज्ञानिक रूप से मजबूत रहता है, भले ही यह तार्किक रूप से कमजोर हो।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन बताते हैं कि जो लोग अपने पहचान की आक्रामकता से रक्षा करते हैं, वे अक्सर आंतरिक रूप से असुरक्षित होते हैं। सुरक्षित व्यक्ति को अपनी पहचान को लगातार व्यक्त करने या जोर से proclaim करने की आवश्यकता नहीं होती। असुरक्षित व्यक्तियों के लिए, पहचान एक भावनात्मक ढाल के रूप में कार्य करती है।

यह एक पुनरावृत्त पैटर्न को स्पष्ट करता है: अधिक असुरक्षा अधिक पहचान आक्रामकता की ओर ले जाती है; कम आत्म-सम्मान मजबूत समूह गर्व की ओर ले जाता है। पहचान आधारित आक्रामकता ताकत का संकेत नहीं है, बल्कि आंतरिक नाजुकता का संकेत है। जब पहचान का गर्व अहं के साथ मिल जाता है, तो आलोचना के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया मौलिक रूप से बदल जाती

है। पहचान पर सवाल उठाना अब एक तार्किक असहमति नहीं है ; यह एक अस्तित्वगत खतरा बन जाता है। मनोविज्ञान इस प्रक्रिया को 'पहचान -संरक्षण संज्ञान ' के रूप में संदर्भित करता है , जिसमें पहचान की रक्षा करना सत्य का मूल्यांकन करने से पहले आता है।

पहचान का गर्व एक द्विआधारी विश्वदृष्टि भी बनाता है। यह सोचने का तरीका एक संज्ञानात्मक शॉर्टकट के रूप में कार्य करता है। जटिल सामाजिक वास्तविकताओं के साथ संलग्न होने के बजाय , मन सरल नैतिक श्रेणियों को पसंद करता है।

इसके परिणामस्वरूप, पहचान की कथाएँ सरल होती हैं, न कि सूक्ष्म।

यह द्विआधारी सोच सहानुभूति को भी कम करती है। जब "वे" अमूर्त और अमानवीकरण हो जाते हैं, तो उनके दुख का भावनात्मक वजन कम हो जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तंत्र के माध्यम से, सामान्य व्यक्ति असाधारण क्रूरता को सही ठहराने में सक्षम होते हैं।

पहचान के गर्व का एक और महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रभाव 'नैतिक आउटसोर्सिंग' है। व्यक्ति नैतिक जिम्मेदारी को समूह पर स्थानांतरित करते हैं: "हम जो कर रहे हैं वह सही होना चाहिए, क्योंकि हम सही पक्ष पर हैं।" इस मानसिकता में, व्यक्ति अब अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार नहीं महसूस करते।

यह मनोविज्ञान शक्ति संरचनाओं के लिए आदर्श है, क्योंकि यह व्यक्तियों को उनके निर्णयों और व्यवहार के लिए नैतिक जिम्मेदारी से अलग करता है।

जब मजबूत सबूत पहचान को चुनौती देते हैं, तो संज्ञानात्मक असंगति उत्पन्न होती है—एक असहज मानसिक स्थिति। इस असुविधा को कम करने के लिए, व्यक्ति सबूत को अस्वीकार कर सकते हैं, इसके स्रोत को अविश्वसनीय बना सकते हैं, या साजिश के सिद्धांतों को अपना सकते हैं।

पहचान को छोड़ना मनोवैज्ञानिक रूप से दर्दनाक होता है क्योंकि यह स्वीकार करने की आवश्यकता होती है कि कोई गलत था, सामाजिक संबंध का जोखिम उठाना, और अर्थ की हानि का सामना करना।

मानव मस्तिष्क सत्य के लिए नहीं बनाया गया है; यह जीवित रहने के लिए बनाया गया है। इसके प्राथमिक लक्ष्य खतरे का पता लगाना, सुरक्षा सुनिश्चित करना

और सामाजिक संबंध बनाए रखना हैं।

एक विकासात्मक दृष्टिकोण से, तर्कसंगत सोच—जो प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स से जुड़ी है—एक अपेक्षाकृत हालिया विकास है। इसके विपरीत, भावनात्मक और खतरे की प्रक्रिया करने वाले सिस्टम जैसे कि एमिग्डाला और लिम्बिक सिस्टम विकासात्मक रूप से पुराने, तेज और अधिक प्रमुख हैं। जब पहचान सक्रिय होती है, तो ये पुराने न्यूरल सिस्टम नियंत्रण में आ जाते हैं, और तर्कसंगत प्रक्रिया द्वितीयक हो जाती है।

न्यूरोसाइंटिफिक अध्ययन लगातार दिखाते हैं कि जब किसी व्यक्ति की मूल पहचान को चुनौती दी जाती है, तो एमिग्डाला सक्रिय होता है, तनाव हार्मोन जैसे कि कोर्टिसोल का स्राव होता है, और लड़ाई या भागने की प्रतिक्रिया शुरू होती है। इस स्थिति में, मस्तिष्क तार्किक चर्चा के लिए अनुकूल मोड में नहीं होता है। मस्तिष्क के लिए, पहचान की आलोचना अब "आप कौन हैं?" का सवाल नहीं है, बल्कि "क्या आप जीवित रहेंगे?" का संकेत है। यही कारण है कि पहचान आधारित बहसें भावनात्मक रूप से विस्फोटक हो जाती हैं।

प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स तर्क, आलोचनात्मक सोच और आवेग नियंत्रण के लिए जिम्मेदार है। हालाँकि, जब भावनात्मक उत्तेजना उच्च होती है—जैसे कि पहचान के खतरे के दौरान—प्रीफ्रंटल कॉर्टेक्स की गतिविधि दब जाती है। ऐसी स्थितियों में, यहां तक कि तार्किक रूप से मजबूत तर्कों को वस्तुनिष्ठ रूप से संसाधित करना कठिन होता है, क्योंकि भावनात्मक मस्तिष्क ने पहले ही स्थिति को खतरनाक के रूप में व्याख्यायित कर लिया है।

पहचान का गर्व भी मस्तिष्क के पुरस्कार प्रणाली को सक्रिय करता है। जब व्यक्ति समूह के प्रतीकों का सामना करते हैं, अपने विश्वासों के साथ मेल खाने वाले नारे सुनते हैं, या समूह की स्वीकृति का अनुभव करते हैं, तो डोपामाइन का स्राव होता है—जो आनंद और प्रेरणा उत्पन्न करता है। यह डोपामाइन बिना किसी प्रयास के पुरस्कार प्रदान करता है। व्यक्ति ऐसा महसूस करते हैं जैसे उन्होंने बिना किसी वास्तविक उपलब्धि के कुछ हासिल कर लिया है। यह तंत्र समझाता है कि पहचान का गर्व मनोवैज्ञानिक रूप से क्यों व्यसनकारी हो जाता है।

संज्ञानात्मक विज्ञान में एक अच्छी तरह से स्थापित अवधारणा "पुष्टि पूर्वाग्रह" है — मस्तिष्क की प्रवृत्ति केवल उन सूचनाओं को स्वीकार करने की जो पूर्व-निर्धारित विश्वासों का समर्थन करती हैं। पहचान के मामले में, यह पूर्वाग्रह काफी मजबूत हो जाता है क्योंकि विश्वास केवल एक विचार नहीं है बल्कि आत्मा का विस्तार है। परिणामस्वरूप, मस्तिष्क या तो विरोधाभासी जानकारी को नजरअंदाज करता है, उसके स्रोत को अविश्वसनीय मानता है, या इसे शत्रुतापूर्ण इरादे के रूप में व्याख्यायित करता है। परिणाम यह है कि समान साक्ष्य विभिन्न पहचान समूहों को पूरी तरह से विपरीत निष्कर्षों की ओर ले जाता है।

अनुसंधान यह भी दिखाता है कि उच्च शिक्षा व्यक्तियों को पहचान के मामलों में अधिक तर्कसंगत नहीं बनाती है; कुछ मामलों में, यह उन्हें अधिक पूर्वाग्रही बना देती है। इस घटना को "पहचान-संरक्षणात्मक संज्ञान" के रूप में जाना जाता है। यहाँ, बुद्धिमत्ता का उपयोग सत्य की खोज के लिए नहीं बल्कि पहचान की रक्षा, मजबूत औचित्य बनाने और जटिल तर्कों का निर्माण करने के लिए किया जाता है। यही कारण है कि केवल शिक्षा पहचान के उग्रवाद को हल नहीं कर सकती।

मानव मस्तिष्क जटिलता से थक जाता है। आर्थिक प्रणालियों, ऐतिहासिक अन्याय, और संरचनात्मक असमानता जैसे विषय संज्ञानात्मक रूप से मांग वाले होते हैं और निरंतर विश्लेषणात्मक प्रयास की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, पहचान की कथाएँ सरल और भावनात्मक रूप से संतोषजनक होती हैं। क्योंकि मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से सरलता को पसंद करता है, पहचान आधारित व्याख्याएँ अधिक आकर्षक लगती हैं — यहां तक कि जब वे तथ्यात्मक रूप से गलत होती हैं।

न्यूरोसाइंस यह भी दर्शाता है कि मनुष्य भावनात्मक संक्रामकता के लिए तैयार होते हैं। समूह की गूंज, भीड़ के नारे, और सामूहिक आक्रोश दर्पण-न्यूरॉन सिस्टम को सक्रिय करते हैं। इस चरण में, व्यक्तिगत मस्तिष्क धीरे-धीरे समूह मस्तिष्क में विलीन हो जाता है। तथ्य तर्कसंगत सर्किट को लक्षित करते हैं, जबकि पहचान भावनात्मक सर्किट में निवास करती है। जब दोनों में संघर्ष होता है, तो भावनात्मक सर्किट आमतौर पर जीत जाते हैं। इस बिंदु पर, सत्य द्वितीयक हो जाता है, और निष्ठा केंद्रीय बन जाती है।

मानव इतिहास का अधिकांश भाग प्री-एग्रीकल्चरल

चरण के दौरान विकसित हुआ। शिकारी -इकट्ठा करने वाले समाजों में , जनसंख्या छोटी थी , सामाजिक संबंध आमने - सामने थे , प्राधिकरण अस्थायी और परिस्थितिजन्य था , और संसाधन बड़े पैमाने पर सामूहिक रूप से साझा किए जाते थे। इस चरण में , कोई कठोर या संस्थागत पहचान प्रणाली नहीं थी। व्यक्तियों ने अपने व्यवहार , कौशल और सहयोग के माध्यम से अपनी मूल्य स्थापित की। कोई स्थायी "ऊपरी " या "निचले " श्रेणियाँ नहीं थीं। ऐतिहासिक साक्ष्य इसलिए यह सुझाव देते हैं कि पहचान की कठोरता जनसंख्या के सीधे अनुपात में होती है।

जैसे -जैसे समूह बड़े होते गए , पहचानें अधिक स्थिर और पदानुक्रमित होती गईं।

कृषि के आगमन के साथ , यह संतुलन टूट गया। खाद्य अधिशेष ने स्थायी बस्तियों का निर्माण किया , और जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगी। जैसे -जैसे संख्या बढ़ी , आमने-सामने का विश्वास प्रणाली टूट गई। यहीं पर पहचान ने अपनी व्यावहारिक भूमिका ग्रहण की। शासक अब व्यक्तियों को व्यक्तिगत रूप से नहीं जान सकते थे , फिर भी शासन की आवश्यकता थी। वर्गीकरण आवश्यक हो गया —कौन काम करेगा , कौन शासन करेगा , कौन कर Taxes देगा। इस क्षण में , पहचान का मुख्य कार्य उभरा : "नियंत्रण के रूप में वर्गीकरण "।

भारतीय उपमहाद्वीप का जाति प्रणाली एक पाठ्यपुस्तक उदाहरण है। जाति ने तीन प्रमुख लाभों के साथ शक्ति प्रदान की। पहले , श्रम स्थायी रूप से सौंपा गया —व्यवसाय जन्म से निश्चित हो गया। दूसरे , असमानता स्वाभाविक और सामान्य प्रतीत होने लगी। तीसरे , प्रतिरोध को धार्मिक कर्तव्य का उल्लंघन के रूप में प्रस्तुत किया गया। यहाँ , पहचान एक सांस्कृतिक घटना के रूप में कम और एक आर्थिक और राजनीतिक तंत्र के रूप में अधिक कार्य करती थी। जाति ने शोषण को परंपरा में बदल दिया , जिससे प्रणाली आत्म -निर्भर हो गई।

धर्म का उदय भी इस ऐतिहासिक संदर्भ से गहराई से जुड़ा हुआ है। प्रारंभिक विश्वास प्रणालियाँ तरल और स्थानीय थीं , लेकिन जैसे -जैसे राज्य और साम्राज्य बने , धर्म संस्थागत हो गया। पुजारी वर्गों ने नैतिकता को परिभाषित किया , आज्ञाकारिता को पवित्र किया , और शासकों को दिव्य वैधता प्रदान की। धर्म ने पहचान को नैतिक कवच प्रदान किया। पहचान अब केवल एक सामाजिक श्रेणी नहीं थी ; यह पवित्र सत्य

बन गई। इस चरण में , असहमति अब केवल एक राजनीतिक अपराध नहीं थी —यह अपमान बन गई।

राष्ट्र एक अपेक्षाकृत हालिया आविष्कार है। मध्यकालीन समाज अपने गाँव , शासक, या विश्वास के साथ पहचाने जाते थे —न कि एक राष्ट्र के साथ। राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ , भाषा को पहचान में परिवर्तित किया गया , सीमाओं को पवित्र घोषित किया गया , और इतिहास को चयनात्मक कथाओं में बदल दिया गया।

राष्ट्रीय पहचान को भावनात्मक रूप से शक्तिशाली बनाने के लिए, झंडे, गान, शहीद, और पाठ्यपुस्तकों को व्यवस्थित रूप से पेश किया गया। इस प्रकार पहचान कल्पित एकता के लिए एक शक्तिशाली उपकरण बन गई।

औद्योगिक युग में, सामूहिक उत्पादन ने सामूहिक पहचान को जन्म दिया। श्रमिकों को नियंत्रित करने, सेनाओं को संगठित करने, और करों को प्रभावी ढंग से एकत्र करने के लिए, साझा पहचान एक आवश्यकता बन गई। यह वह अवधि थी जब राष्ट्रवाद फला-फूला, जातीय सिद्धांतों ने लोकप्रियता हासिल की, और पहचान गर्व को राजनीतिक हथियार के रूप में उपयोग किया जाने लगा। पहचान अब शासन का एक साइड-इफेक्ट नहीं थी; यह एक मुख्य रणनीति बन गई।

बीसवीं सदी पहचान की विनाशकारी क्षमता का सबसे हिंसक प्रमाण प्रदान करती है। नाज़ीवाद जातीय पहचान पर आधारित था, फासीवाद अत्यधिक राष्ट्रीय गर्व पर, और नरसंहार जातीय और धार्मिक पहचान पर। ये आधुनिक पहचान थीं, प्राचीन नहीं। प्रौद्योगिकी, नौकरशाही, और सामूहिक प्रचार ने पहचान को औद्योगिक पैमाने पर हथियार बना दिया, जिससे अमूर्त विचारों ने वास्तविक मानवों पर अभूतपूर्व स्तर की हिंसा को छोड़ दिया।

प्रारंभिक मानव विश्वास प्रणालियाँ तरल थीं। लोग एक साथ कई देवताओं, स्थानीय आत्माओं, और अनुष्ठानों का पालन करते थे। विश्वास व्यक्तिगत, संदर्भित, और लचीला था। हालाँकि, जैसे-जैसे समाज बड़े, अधिक स्थायी, और अधिक पदानुक्रमित होते गए, विश्वास संस्थागत हो गया। इस संक्रमण के साथ, धर्म की भूमिका मौलिक रूप से बदल गई—विश्वास से पहचान में। इस चरण में, धर्म आध्यात्मिक खोज का एक रूप नहीं रहा और सामाजिक वर्गीकरण का एक तंत्र बन गया।

धर्म पहचान को पवित्र बनाता है। पवित्र होने का अर्थ है प्रश्न से परे होना। यह धर्म का सबसे शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक हथियार है। पहचान को पवित्र बनाकर, धर्म इसे तर्कसंगत आलोचना से प्रतिरक्षित करता है। परिणामस्वरूप, धार्मिक पहचान पर सवाल उठाना असहमति के रूप में नहीं बल्कि अपमान के रूप में माना जाता है।

धार्मिक पहचान अक्सर "चुने हुए" या "विशेष" होने की कथाओं के साथ होती है। ये कथाएँ गर्व का एक असाधारण शक्तिशाली स्रोत बन जाती हैं। व्यक्ति महसूस करते हैं कि वे एक ब्रह्मांडीय सत्य के पक्ष में खड़े हैं। यह गर्व व्यक्तिगत उपलब्धियों से संबंधित नहीं है; यह केवल संबंध से उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से, नैतिक श्रेष्ठता का एक भ्रांति बनाई जाती है, जिसमें "हम" स्वाभाविक रूप से सही हैं और "वे" स्वाभाविक रूप से गलत या बुरे हैं।

धर्म की सबसे विशिष्ट विशेषताओं में से एक यह है कि यह आज्ञाकारिता को एक नैतिक गुण में बदल देता है। धर्मनिरपेक्ष शक्ति आज्ञाकारिता को बल और दंड के माध्यम से लागू करती है, जबकि धर्म आज्ञाकारिता को पुरस्कार के माध्यम से लागू करता है। इस ढांचे का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह है कि व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी स्वायत्तता को समर्पित कर देते हैं। आज्ञाकारिता केवल दंड के डर से नहीं, बल्कि परलोक के पुरस्कार, दिव्य स्वीकृति और सामाजिक स्वीकृति की इच्छा से प्रेरित होती है।

धर्म पहचान को न केवल गर्व के माध्यम से, बल्कि डर और अपराधबोध के माध्यम से भी मजबूत करता है। नरक, पाप, कर्म और दिव्य दंड जैसे अवधारणाएँ मनोवैज्ञानिक नियामकों के रूप में कार्य करती हैं। उनकी प्राथमिक भूमिका व्यवहार को नियंत्रित करना है बिना निरंतर शारीरिक निगरानी की आवश्यकता के। इस चरण में, बाहरी नियंत्रण की आवश्यकता कम हो जाती है, और धर्म एक आत्म-नियामक पहचान प्रणाली बन जाता है।

ऐतिहासिक रूप से, धर्म ने सामाजिक पदानुक्रमों को वैधता प्रदान की है—जैसे जाति प्रणाली, लिंग

भूमिकाएँ , दासता , और राजतंत्र। पदानुक्रम को दिव्य स्वीकृति प्राप्त होती है। एक बार जब असमानता को पवित्र बना दिया जाता है , तो प्रतिरोध केवल एक राजनीतिक कार्य नहीं रह जाता ; इसे अमोरल और पापी के रूप में पुनः फ्रेम किया जाता है।

अनुष्ठान धर्म के मनोवैज्ञानिक इंजन के रूप में कार्य करते हैं। सामूहिक प्रार्थना , जप, उपवास , और त्योहारों जैसे अभ्यास साझा भावनात्मक अनुभव उत्पन्न करते हैं। न्यूरोसाइंस और मनोविज्ञान दोनों दिखाते हैं कि सामूहिक अनुष्ठान भावनात्मक बंधन को एक असंगत डिग्री तक मजबूत करते हैं। पहचान का गर्व

इस बंधन से स्वचालित रूप से जुड़ जाता है, बिना किसी सचेत तर्क की आवश्यकता के।

धर्म अपने आप को शांति के स्रोत के रूप में प्रस्तुत करता है, फिर भी इतिहास धार्मिक हिंसा से भरा हुआ है। यह विरोधाभास तब समझ में आता है जब धर्म को विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि पहचान के रूप में देखा जाता है। विश्वास सह-अस्तित्व में रह सकते हैं; पहचान प्रतिस्पर्धा करती है। एक बार जब धर्म पहचान बन जाता है, तो संघर्ष लगभग अनिवार्य हो जाता है।

आधुनिक समाजों में, जैसे-जैसे पारंपरिक धार्मिक प्राधिकरण कमजोर होता है, धर्म पहचान के रूप में अधिक आक्रामक रूप से खुद को प्रस्तुत करता है। राजनीतिक अभिनेता धर्म का उपयोग mobilization, वोट-बैंक समेकन, और भावनात्मक विचलन के लिए एक उपकरण के रूप में करते हैं। इस संदर्भ में, धर्म आध्यात्मिकता के एक माध्यम के रूप में कार्य करना बंद कर देता है और सामूहिक मनोवैज्ञानिक प्रबंधन के लिए एक उपकरण बन जाता है।

वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद, धार्मिक पहचान जीवित रहती है क्योंकि विज्ञान अस्तित्वगत आराम प्रदान नहीं करता। विज्ञान प्रश्न पूछता है और अनिश्चितता को स्वीकार करता है, जबकि धर्म तैयार उत्तर प्रदान करता है—भले ही वे गलत हों। यह भावनात्मक निश्चितता ही है कि धार्मिक पहचान एक तर्कसंगत, आधुनिक दुनिया में अपनी पकड़ बनाए रखती है।

राजनीतिक सिद्धांतकार बेनेडिक्ट एंडरसन ने राष्ट्र को "कल्पित समुदाय" के रूप में वर्णित किया। यहाँ, 'कल्पित' का अर्थ झूठा या काल्पनिक नहीं है; इसका अर्थ है कि राष्ट्र को किसी भी व्यक्ति

द्वारा सीधे या व्यक्तिगत रूप से अनुभव नहीं किया जाता है। राष्ट्र प्रतीकात्मक कथाओं के माध्यम से महसूस किया जाता है —नक्शे, झंडे, गान, पाठ्यपुस्तकें, और साझा कहानियाँ। अधिकांश नागरिक कभी एक-दूसरे से नहीं मिलते, फिर भी वे एक भावनात्मक बंधन का अनुभव करते हैं। यही कारण है कि लोग राष्ट्र के लिए मरने के लिए भी तैयार होते हैं। इस विरोधाभास को पहचान मनोविज्ञान के ढांचे के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

राष्ट्रीय पहचान प्राचीन नहीं है। मध्यकालीन समाजों में, लोग अपने गाँव, अपने शासक, या अपने धर्म के साथ पहचानते थे —न कि एक राष्ट्र के साथ। राष्ट्र-राज्य का उदय मुख्य रूप से

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, जब औद्योगिकीकरण ने बड़े पैमाने पर जनसंख्या का उत्पादन किया, केंद्रीकृत राज्यों को बड़े पैमाने पर वफादारी की आवश्यकता थी, और सेनाएँ, कराधान, और समान कानूनों को वैधता की आवश्यकता थी। इस संदर्भ में, राष्ट्रवाद एक भावनात्मक चिपकने वाला के रूप में उभरा, जिससे लाखों लोगों को एक अमूर्त, निरपेक्ष राज्य से भावनात्मक रूप से जुड़ने में सक्षम बनाया।

राष्ट्रीयता की मुख्य भावना गर्व है—राष्ट्रीय गर्व। यह गर्व व्यक्तिगत उपलब्धियों पर आधारित नहीं है, बल्कि जन्मस्थान, ऐतिहासिक मिथकों और चयनात्मक सामूहिक स्मृति पर आधारित है। व्यक्ति महसूस करते हैं: "मैं इस राष्ट्र का हिस्सा हूं, इसलिए मैं महत्वपूर्ण हूं।" यह गर्व विशेष रूप से व्यक्तिगत असुरक्षा के समय—जैसे आर्थिक तनाव, बेरोजगारी, या सामाजिक असमानता—के दौरान प्रभावी हो जाता है।

राष्ट्रीयता की सबसे खतरनाक विशेषता यह है कि यह राजनीतिक आज्ञाकारिता को नैतिक कर्तव्य में बदल देती है। राज्य के निर्णयों पर सवाल उठाना "विरोधी-राष्ट्रीय," "गद्दार," या "अविवेकी" के रूप में लेबल किया जाता है। इस तरह, लोकतांत्रिक असहमति को भावनात्मक ब्लैकमेल में बदल दिया जाता है, जहां वफादारी तर्क को प्रतिस्थापित करती है।

राष्ट्रीयता बलिदान की महिमा करती है। सैनिकों, शहीदों, और रक्तपात को पवित्र कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्तिगत जीवन का अंतर्निहित मूल्य धीरे-धीरे राष्ट्र के अमूर्त सम्मान के अधीन हो जाता है। ऐतिहासिक रूप से, युद्ध मुख्य रूप से आर्थिक और राजनीतिक हितों द्वारा

संचालित होते हैं , फिर भी उन्हें राष्ट्रीय गर्व के नाम पर सही ठहराया जाता है। राष्ट्रीयता एक मौलिक प्रश्न को पूछने से रोकती है : "लोग वास्तव में किसकी शक्ति के लिए मर रहे हैं ?"

राष्ट्रीय पहचान तब तक पूरी तरह से अर्थपूर्ण नहीं होती जब तक कि एक "बाहरी " व्यक्ति मौजूद न हो। यही कारण है कि राष्ट्रीयता प्रवासियों को खतरे के रूप में प्रस्तुत करती है , अल्पसंख्यकों के प्रति संदेह से व्यवहार करती है , और आंतरिक असहमति रखने वालों को दुश्मनों के रूप में चित्रित करती है। सीमा की निगरानी राष्ट्रीयता की एक आवश्यक विशेषता है। "हम" और "वे " के बीच जितनी तेज़ भिन्नता होती है , गर्व उतना ही तीव्र हो जाता है।

भारत जैसे अत्यधिक विविध समाज में, राष्ट्रीयता और भी जटिल हो जाती है। आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, और सामाजिक विखंडन के बीच, राष्ट्रीयता सभ्यता के गर्व को पुनर्जीवित करती है, ऐतिहासिक मिथकों को राजनीतिक उपकरणों में बदल देती है, और अक्सर धार्मिक पहचान के साथ मिल जाती है। यह संलयन असहमति को अधिक जोखिम भरा बना देता है, क्योंकि आलोचना को केवल राजनीतिक असहमति के रूप में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अपराध के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

राष्ट्रीय गर्व अक्सर वास्तविक मुद्दों से ध्यान हटा देता है। भावनात्मक प्रतीक—जैसे झंडा, गान, और महिमामंडित इतिहास—भौतिक चिंताओं को overshadow करते हैं। गर्व की आवाज़ जवाबदेही की मांग को चुप करा देती है, जिससे शक्ति संरचनाएं बिना चुनौती के कार्य कर सकती हैं।

"जन्म आधारित पहचान" उस पहचान को संदर्भित करती है जो न तो किसी व्यक्ति के कार्यों, प्रयासों, या सचेत विकल्पों द्वारा निर्धारित होती है, बल्कि केवल जन्म के संयोग द्वारा। जाति, नस्ल, जातीयता, और वंश जैसी श्रेणियाँ इस ढांचे में आती हैं। इस प्रकार की पहचान का गर्व सबसे असंगत है, क्योंकि न तो गर्व और न ही शर्म यहाँ अर्जित की जाती है—न तो उपलब्धि के माध्यम से और न ही नैतिक विकल्प के माध्यम से।

इस प्रकार की पहचान के पीछे का मूल अनुमान है: '“मैं मूल्यवान हूं क्योंकि मैं यहाँ पैदा हुआ, या क्योंकि मैं इस समूह में पैदा हुआ।”'

इस अनुमान में दो मौलिक तार्किक दोष हैं। पहला, जन्म एक जैविक यादृच्छिकता है—कोई भी इसके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रखता। दूसरा, यादृच्छिकता को नैतिक

या सामाजिक मूल्य देना गैर -तार्किक है। फिर भी , समाजों ने ऐतिहासिक रूप से जन्म को पदानुक्रम की नींव में बदल दिया है।

जाति और नस्ल प्रणालियों की उत्पत्ति आध्यात्मिक या सांस्कृतिक नहीं , बल्कि राजनीतिक थी। जब भी संसाधन सीमित हो गए , शक्ति कुछ हाथों में केंद्रित हो गई , और श्रम को व्यवस्थित रूप से शोषित करने की आवश्यकता थी , तब अभिजात वर्ग ने जन्म आधारित श्रेणियाँ बनाई। चाहे यह ...

जाति व्यवस्था या नस्लीय विभाजन, उद्देश्य वही था: एक शासक वर्ग बनाना और बाकी को उनकी नियति के रूप में आज्ञाकारिता स्वीकार करने के लिए मजबूर करना। जन्म को नियति घोषित करना शक्ति के सबसे प्रभावी उपकरणों में से एक बन गया।

भारतीय जाति व्यवस्था को अक्सर आध्यात्मिकता और परंपरा के नाम पर सही ठहराया जाता है, लेकिन वास्तव में यह एक कठोर श्रम-विभाजन प्रणाली के रूप में कार्य करती थी। इसने सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध किया और शोषण को धार्मिक स्वीकृति दी। एक व्यक्ति कौन सा काम करेगा, वह क्या अध्ययन कर सकता है, वह किससे शादी कर सकता है—इन सभी का निर्णय जन्म के समय ही हो जाता था। व्यक्तिगत क्षमता और योग्यता अप्रासंगिक हो जाती थी।

जाति एक मिथक है जिसे विज्ञान के नाम पर बनाया गया है। आधुनिक आनुवंशिकी ने स्पष्ट रूप से स्थापित किया है कि जैविक मानव जातियाँ अस्तित्व में नहीं हैं। आनुवंशिक विविधता तथाकथित जातियों के भीतर उनके बीच की तुलना में अधिक है। फिर भी, जाति आधारित गर्व ने दासता को सही ठहराया, उपनिवेशवाद को नैतिकता दी, और यहां तक कि नरसंहार को भी तर्कसंगत बनाया। चाहे वह श्वेत श्रेष्ठता हो या आर्य मिथक, तर्क वही रहता है: जन्म का मतलब श्रेष्ठता।

जन्म आधारित गर्व का मनोवैज्ञानिक आकर्षण यह है कि इसमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, असफलता का कोई जोखिम नहीं होता, और यह तात्कालिक आत्म-संतोष प्रदान करता है। यदि कोई अपने जाति, जाति या वंश पर गर्व करता है, तो उन्हें अब उपलब्धि, विकास या आत्म-प्रतिबिंब में संलग्न होने की आवश्यकता नहीं होती। यह गर्व धीरे-धीरे व्यक्तिगत विकास के लिए एक

विकल्प बन जाता है।

जहाँ कुछ गर्व विरासत में लेते हैं , वहीं अन्य शर्म को विरासत में लेते हैं। वे निम्न आत्म -मूल्य को आंतरिक कर लेते हैं और अपनी सीमाओं को "प्राकृतिक " के रूप में देखने लगते हैं। यह प्रणाली केवल उत्पीड़न नहीं बनाती ; यह अपने पीड़ितों के मन में उत्पीड़न को सामान्य बनाती है।

इस पर विज्ञान की स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है : बुद्धिमत्ता विरासत में मिली जाति या जाति से जुड़ी नहीं है ; प्रतिभा मानव जनसंख्या में व्यापक रूप से समान रूप से वितरित है ; भिन्नताएँ केवल अवसर से उत्पन्न होती हैं , जो असमान रूप से वितरित होती हैं। जन्म आधारित पहचान

इस अवसर के अंतर को जैविक स्पष्टीकरण में बदल देती है। असमानता को प्राकृतिक के रूप में प्रस्तुत करके , पूरे प्रणाली को निर्दोष दिखाने का प्रयास किया जाता है।

आज, जाति या जाति का खुला समर्थन अब सामाजिक रूप से स्वीकार्य नहीं है , फिर भी ये प्रणालियाँ जीवित रहती हैं —उपनामों , विवाह प्राथमिकताओं , आवास भेदभाव , और "संस्कृतिक फिट " जैसे तटस्थ -ध्वनि वाले शब्दों के माध्यम से। गर्व अब जोरदार नहीं है , बल्कि अधिक सूक्ष्म है , और इसलिए अधिक टिकाऊ है।

भाषा का प्राथमिक कार्य संचार है। हालाँकि , आधुनिक समाजों में , भाषा अब केवल संचार का एक माध्यम नहीं है ; यह धीरे -धीरे एक принадлеж ता का चिह्न बन जाती है। भाषा "हम" और "वे " को परिभाषित करती है , सामाजिक स्थिति का संकेत देती है , और समूह की सीमाएँ खींचती है। जब कोई कहता है , '"यह हमारी भाषा है ,"' तो वे केवल बोलने के तरीके का वर्णन नहीं कर रहे हैं ; वे स्वामित्व और बहिष्कार की घोषणा कर रहे हैं।

जब एक भाषा को श्रेष्ठ घोषित किया जाता है , अन्य को "अशुद्ध ," "पिछड़ा ," या "कम परिष्कृत " के रूप में लेबल किया जाता है , और भाषा के आधार पर वफादारी की मांग की जाती है , तो भाषा गर्व समस्याग्रस्त हो जाता है। इतिहास दिखाता है कि भाषाई गर्व अक्सर राष्ट्रवाद के साथ मिल जाता है , सांस्कृतिक एकरूपता को लागू करता है , और अल्पसंख्यकों को चुप या अदृश्य बना देता है।

भारत जैसे बहुभाषी समाज में , भाषा गर्व की भूमिका और भी अधिक संवेदनशील हो जाती है। यहाँ , भाषा सभ्यता के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जाती है , राष्ट्रीय एकता का प्रतीक , और सांस्कृतिक

शुद्धता का चिह्न। इस प्रक्रिया में , गैर -प्रभुत्व वाली भाषाओं के बोलने वाले धीरे -धीरे “कम राष्ट्रीय ” महसूस करने लगते हैं , और भाषाई विविधता को प्राकृतिक वास्तविकता के रूप में नहीं बल्कि एक समस्या के रूप में देखा जाता है। ऐसे संदर्भ में , भाषा गर्व सांस्कृतिक पुष्टि से परे चला जाता है और एक राजनीतिक तंत्र बन जाता है जो принадлеж ता और वफादारी को मापता है।

आज के भारत में , भाषा को अक्सर सभ्यता के प्रमाण , राष्ट्रीय एकता के प्रतीक , और सांस्कृतिक

शुद्धता , हालांकि संविधान के अनुसार कोई "राष्ट्रीय भाषा " नहीं है। इसके बावजूद , हिंदी को रेलवे , बैंकिंग , केंद्रीय सरकार की संचार , और राष्ट्रीय स्तर की परीक्षाओं जैसे सार्वजनिक संस्थानों में एक डिफ़ॉल्ट स्थिति दी गई है। इस प्रक्रिया के माध्यम से , गैर -हिंदी बोलने वालों को एक निहित संकेत मिलता है कि उनकी भाषाई पहचान राष्ट्र की केंद्रीय कल्पना के साथ कम मेल खाती है , और जब वे इसका विरोध करते हैं , तो उन्हें विभाजनकारी या राष्ट्र -विरोधी के रूप में लेबल किया जाता है।

तीन -भाषा सूत्र के चारों ओर की चर्चा इसी तर्क को मजबूत करती है। आधिकारिक रूप से , इसे भाषाई संतुलन और विकल्प के एक मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया गया है , लेकिन व्यावहारिक रूप से , गैर -हिंदी राज्यों को हिंदी सीखने के लिए अधिक दबाव का सामना करना पड़ता है , जबकि हिंदी बोलने वाले क्षेत्रों से दक्षिणी या पूर्वोत्तर भाषाएँ सीखने की कोई पारस्परिक अपेक्षा नहीं होती। इस विषमता के माध्यम से , भाषाई विविधता को एक प्राकृतिक मानव वास्तविकता के रूप में नहीं बल्कि एक प्रशासनिक असुविधा के रूप में देखा जाता है , जहाँ एकता का अर्थ भाषाई समानता होता है न कि स्वैच्छिक सह -अस्तित्व।

मीडिया और राजनीतिक कथाएँ भी एक निहित पदानुक्रम के साथ काम करती हैं , जहाँ हिंदी बेल्ट को "वास्तविक भारत " के रूप में चित्रित किया जाता है , जबकि अन्य भाषाई संस्कृतियों को क्षेत्रीय , स्थानीय , या परिधीय के रूप में लेबल किया जाता है। बांग्ला , तमिल , मलयालम, मणिपुरी , या जनजातीय भाषाएँ जैसे बोडो , संथाली , और लेपचा को सभ्यता -निर्माण परंपराओं के रूप में नहीं , बल्कि सांस्कृतिक उप -

पहचान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस रूपरेखा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह है कि गैर-प्रमुख भाषाओं के बोलने वाले धीरे-धीरे अपनी भाषाओं को निम्न-स्तरीय और सीमित भविष्य वाली समझने लगते हैं, जिससे भाषाई आत्म-विश्वास कमजोर होता है।

इसके साथ, एक और विरोधाभास उभरता है: सार्वजनिक संवाद में, अंग्रेजी को उपनिवेशी और भारतीय विरोधी के रूप में लेबल किया जाता है, जबकि वास्तविक शक्ति संरचनाएँ—जैसे उच्च न्यायपालिका, कॉर्पोरेट क्षेत्र, नीति निर्माण, और उच्च शिक्षा—प्रमुख रूप से अंग्रेजी-प्रभुत्व वाली बनी रहती हैं। इस तरह, भाषा का गर्व एक नहीं बन जाता है

समानतावादी आंदोलन नहीं बल्कि चयनात्मक नैतिकता का एक उपकरण है , जहाँ अंग्रेजी अभिजात वर्ग के लिए स्वीकार्य है और हिंदी को जन masses पर सांस्कृतिक कर्तव्य के रूप में थोप दिया जाता है।

ड्राइव का नाम बदलना और अत्यधिक संस्कृतकरण भी इस वैचारिक परियोजना का हिस्सा बन जाता है , जहां उर्दू , फ़ारसी , जनजातीय , और मिश्रित भाषाई इतिहासों को मिटाकर एक समरूप सांस्कृतिक अतीत का निर्माण किया जाता है। यह प्रक्रिया भाषा का एक जैविक विकास नहीं है , बल्कि भाषा के माध्यम से इतिहास और पहचान को शुद्ध करने का एक राजनीतिक प्रयास है। उत्तर - पूर्व और जनजातीय क्षेत्रों में , यह और भी अधिक स्पष्ट है , जहां भाषाओं की संवैधानिक मान्यता के बावजूद , प्रशासन , उच्च शिक्षा , और रोजगार में उनका प्रभावी उपयोग लगभग नगण्य बना हुआ है।

इसका संचित प्रभाव यह है कि भाषा अब संचार का एक तटस्थ उपकरण नहीं रह जाती , बल्कि एक मौन नागरिकता परीक्षण बन जाती है। प्रश्न जैसे '“आप हिंदी नहीं जानते ?”' किसी व्यक्ति की राष्ट्रीय принадлежता पर संदेह डालते हैं , विशेष रूप से प्रवासियों , छात्रों और भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए। एक बहुभाषी भारत में , जब भाषा को गर्व के नाम पर राजनीतिकरण किया जाता है , तो विविधता एक समस्या बन जाती है न कि एक ताकत, और एकता एक थोपे गए प्रदर्शन के रूप में बन जाती है न कि एक जीती -जागती वास्तविकता। इस संदर्भ में , भाषा एक पुल के रूप में कार्य नहीं करती बल्कि एक सीमा के रूप में कार्य करती है —एक अदृश्य सीमा , फिर भी एक जो दैनिक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर गहराई से अनुभव की जाती है।

संस्कृति मूल रूप से एक गतिशील प्रक्रिया थी —यह लोगों के जीने , खाने , सोचने और बातचीत करने के तरीके

का एक विकसित पैटर्न है। लेकिन जब संस्कृति पहचान के गर्व से जुड़ जाती है, तो यह जमी हुई हो जाती है। परंपरा को पवित्र बना दिया जाता है, और परिवर्तन को विश्वासघात के रूप में देखा जाता है। यह सांस्कृतिक संरक्षणवाद शक्ति संरचनाओं को स्थिर करता है, क्योंकि परिवर्तन हमेशा प्राधिकरण के लिए एक जोखिम प्रस्तुत करता है।

प्रतीक पहचान के शॉर्टकट होते हैं। झंडे, लिपियाँ, पारंपरिक वस्त्र, और अनुष्ठान जटिल इतिहासों और शक्ति संबंधों को सरल भावनात्मक उत्तेजनाओं में संकुचित करते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से, जिस क्षण एक

जब प्रतीक देखा जाता है, तो एक भावनात्मक प्रतिक्रिया सक्रिय होती है, आलोचनात्मक सोच को दरकिनार किया जाता है, और व्यक्ति समूह के साथ समन्वयित हो जाता है। यही कारण है कि प्रतीक तानाशाही और पदानुक्रमित प्रणालियों के पसंदीदा उपकरण होते हैं।

मानव मस्तिष्क अक्सर परिचितता को सत्य के रूप में गलत समझता है। जो बचपन से सिखाया जाता है, लगातार दोहराया जाता है, और भावनात्मक चार्ज के साथ प्रस्तुत किया जाता है, वह "प्राकृतिक" लगने लगता है। भाषा और संस्कृति इस परिचितता का उपयोग पहचान को सवालात से परे बनाने के लिए करती हैं, बिना यह प्रकट किए कि ये ऐतिहासिक और राजनीतिक निर्माण हैं।

भाषा न केवल पहचान बनाती है, बल्कि वर्ग भी। उच्चारण, उच्चारण और शब्दावली बुद्धिमत्ता और क्षमता के झूठे संकेत बन जाते हैं। भाषाई भेदभाव शिक्षा के नाम पर होता है, जहां कुछ बोलने के तरीके "स्मार्ट" माने जाते हैं और अन्य "निम्न"। यह भाषाई अभिजात्यवाद वैज्ञानिक नहीं है; यह केवल सामाजिक कंडीशनिंग का परिणाम है।

संस्कृति की गर्व अक्सर व्यक्तिगत विकल्पों के खिलाफ खड़ी होती है। ऐसे बयान जैसे '"हमारी संस्कृति में यह अनुमति नहीं है,"' या '"हमारी परंपरा इसे स्वीकार नहीं करती,"' संस्कृति को एक जीवित ढांचे से नियंत्रण तंत्र में बदल देते हैं। व्यक्तिगत अनुभव, सहमति, और स्वायत्तता अप्रासंगिक हो जाती हैं, और अनुपालन को एक गुण में बदल दिया जाता है।

विज्ञान परिवर्तन को सामान्य और आवश्यक मानता है, जबकि सांस्कृतिक गर्व परिवर्तन को एक खतरे के

रूप में देखता है। यही कारण है कि वैज्ञानिक सुधारों को सांस्कृतिक हमलों के रूप में लेबल किया जाता है, और तर्कसंगत आलोचना को "पश्चिमी प्रभाव" या "विदेशी एजेंडा" के रूप में खारिज कर दिया जाता है। सांस्कृतिक गर्व ठहराव की रक्षा करता है, विकास की नहीं।

प्रचार

हर प्रमुख संस्था —चाहे वह धर्म हो, राजनीतिक पार्टी हो, या निगम —अपने विचारों को फैलाने के लिए प्रचार पर निर्भर करती है। फिर भी, सबसे शक्तिशाली और सबसे खतरनाक प्रचार का रूप वह है जो राज्य द्वारा फैलाया जाता है। क्यों? क्योंकि कोई अन्य संस्था उन उपकरणों और अधिकारों को नहीं रखती जो सरकारों के पास होते हैं।

पहला और सबसे प्रभावशाली उपकरण शिक्षा है। अधिकांश देशों में, राज्य शिक्षा प्रणाली को नियंत्रित करता है और इसका उपयोग मुख्य रूप से आलोचनात्मक दिमागों को विकसित करने के लिए नहीं, बल्कि आज्ञाकारी नागरिकों को बनाने के लिए करता है। छोटी उम्र से, बच्चों को एक ऐसे इतिहास का संस्करण सिखाया जाता है जो उनके राष्ट्र की महिमा करता है और दूसरों को बदनाम करता है। उन्हें यह विश्वास करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है कि अपने देश के लिए मरना सबसे बड़ा गुण है। उन्हें सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता, बल्कि पूर्वनिर्धारित उत्तरों को स्वीकार करने के लिए कंडीशन किया जाता है।

इतिहास और राजनीतिक प्रणालियों के पार, शिक्षा ने बार-बार आलोचनात्मक चेतना को विकसित करने के एक साधन के रूप में कम और आज्ञाकारी नागरिकों का उत्पादन करने के एक तंत्र के रूप में अधिक कार्य किया है। नाजी जर्मनी में, स्कूल पाठ्यक्रम को स्पष्ट रूप से नस्लीय पदानुक्रम को बढ़ावा देने, राज्य की महिमा करने, और प्राधिकरण के प्रति आज्ञाकारिता को सामान्य बनाने के लिए फिर से

डिजाइन किया गया था , जबकि असहमति को नैतिक भ्रष्टाचार के रूप में प्रस्तुत किया गया था।
साम्राज्यवादी जापान ने भी शिक्षा में सम्राट की पूजा और सैन्य नैतिकता को समाहित किया , बच्चों को सिखाया कि राष्ट्र के लिए आत्म -बलिदान सबसे बड़ा मानव गुण था। शीत युद्ध के दौरान , यहां तक कि उदार लोकतंत्र जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारी रूप से क्यूरेट की गई कथाएँ प्रस्तुत कीं जिनमें राष्ट्रीय क्रियाओं को स्वाभाविक रूप से दयालु के रूप में प्रस्तुत किया गया , दासता और साम्राज्यवादी हिंसा को नरम या किनारे किया गया , और वैचारिक विकल्पों को अस्तित्वगत खतरों के रूप में चित्रित किया गया।

सोवियत संघ ने एक अलग वैचारिक कोण से समान पैटर्न का पालन किया, आधिकारिक सिद्धांत को अचूक सत्य के रूप में मानते हुए और पार्टी के हितों के साथ मेल खाने के लिए इतिहास को बार-बार फिर से लिखते हुए। कई उपनिवेश-कालीन राष्ट्र-राज्यों में, जिसमें दक्षिण एशिया और अफ्रीका शामिल हैं, पाठ्यपुस्तकें एक एकल राष्ट्रीय कहानी का निर्माण करती हैं जो प्राचीन विरासत की महिमा करती है, आंतरिक विविधता को दबाती है, और युद्ध और बलिदान को राजनीतिक विफलता के बजाय नायकत्व के भाग्य के रूप में प्रस्तुत करती है।
उत्तर कोरिया और समकालीन चीन जैसे अधिनायकवादी शासन इस तर्क को और भी स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हैं, यह नियंत्रित करते हुए कि क्या सिखाया जा सकता है, असुविधाजनक ऐतिहासिक तथ्यों को मिटाते हुए, और नेताओं को लगभग पौराणिक स्थिति में उठाते हुए। इन विविध संदर्भों में, पैटर्न स्थिर रहता है: प्रारंभिक भावनात्मक कंडीशनिंग, चयनात्मक इतिहास, राष्ट्रीय बलिदान की महिमा, और मौलिक प्रश्न पूछने की हतोत्साहना, यह दर्शाते हुए कि शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य बौद्धिक मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि राज्य शक्ति के साथ मनोवैज्ञानिक संरेखण के लिए है।

दूसरा हथियार मीडिया है—टेलीविजन, रेडियो, समाचार पत्र, और बढ़ती हुई, इंटरनेट। सरकारें मीडिया को सीधे, राज्य के स्वामित्व वाले आउटलेट के माध्यम से, या अप्रत्यक्ष रूप से, विज्ञापन राजस्व और नियामक खतरों जैसे आर्थिक दबाव डालकर नियंत्रित करती हैं। मीडिया यह तय करता है कि क्या दिखाई देगा और क्या अदृश्य रहेगा, क्या संकट में बढ़ा दिया जाएगा और क्या चुप्पी में मिटा दिया जाएगा। एक झूठ को बार-बार दोहराने पर वह सत्य के समान लगने लगता

है ; डर का निर्माण किया जा सकता है ; विशेष समुदायों के खिलाफ नफरत को बढ़ावा दिया जा सकता है ; और नेताओं को उद्धारक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

तीसरा हथियार आर्थिक दबाव है , और यह चुपचाप लेकिन शक्तिशाली ढंग से काम करता है। अधिकांश लोग जीवित रहने के लिए अपनी नौकरियों , व्यवसायों या पेशेवर नेटवर्क पर निर्भर हैं , और अनुरूपता लागू करने के लिए इस निर्भरता का फायदा उठाया जा सकता है। कई संदर्भों में , प्राधिकार के विरुद्ध बोलना - या यहाँ तक कि एक अलोकप्रिय राय व्यक्त करना - किसी की आजीविका खोने का वास्तविक जोखिम वहन करता है। के लिए

उदाहरण के लिए, भारत में पत्रकारों को सरकारी नीतियों की आलोचना करने या भ्रष्टाचार को उजागर करने के लिए धमकियों, मान्यता की हानि, या ब्लैकलिस्टिंग का सामना करना पड़ा है। इसी तरह, चीन में श्रमिकों को कम्युनिस्ट पार्टी पर सवाल उठाने के लिए पदावनति, नौकरी से बर्खास्तगी या यहां तक कि सामाजिक नतीजों का सामना करना पड़ सकता है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में, जो कर्मचारी कंपनी की नीतियों का विरोध करते हैं या यूनियन बनाते हैं, उन्हें सूक्ष्म प्रतिशोध या करियर में ठहराव का सामना करना पड़ सकता है। यह डर एक डरावना प्रभाव पैदा करता है: लोग आंतरिक रूप से असहमत होने पर भी बाहरी रूप से अनुरूप होते हैं, क्योंकि उनके परिवारों और आर्थिक सुरक्षा की रक्षा करना ईमानदारी की कीमत से अधिक है।

आर्थिक दबाव मनोवैज्ञानिक हेरफेर के साथ-साथ काम करता है। प्रचार मानव की सामाजिक आवश्यकता का शोषण करता है, जो सामाजिक प्राणियों का मुख्य गुण है। हमारा सबसे गहरा डर अलगाव है, और इस डर को हथियार बनाया जा सकता है। सरकारें, संस्थाएँ और शक्तिशाली समूह दुनिया को "हम" और "वे" के बीच विभाजित करते हैं - हमारा राष्ट्र बनाम विदेशी, हमारा धर्म बनाम विधर्मी, हमारी जाति बनाम बाहरी। भारत में, चुनावों के दौरान राष्ट्रवादी बयानबाजी अक्सर असहमत लोगों को देशद्रोही या देशद्रोही के रूप में चित्रित करती है, जिससे आम नागरिक लोकप्रिय कथाओं पर सवाल उठाने से झिझकते हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, शीत युद्ध के दौरान, सरकारी नीतियों पर सवाल उठाने वाले अमेरिकियों को "कम्युनिस्ट सहानुभूति रखने वाले" करार दिए जाने का जोखिम था, जबकि नाज़ी जर्मनी में, असहमति के छोटे-छोटे

कृत्यों से भी सामाजिक बहिष्कार या आर्थिक परिणाम हो सकते थे। यह सामाजिक दबाव यह सुनिश्चित करता है कि प्रमुख समूह द्वारा समर्थित त्रुटियों या झूठ का भी बचाव किया जाता है, क्योंकि बहिष्कार की कीमत सच्चाई की कीमत से अधिक महसूस होती है।

शिक्षा, मीडिया, आर्थिक नियंत्रण और मानव मनोविज्ञान मिलकर राज्य प्रचार की एक अदृश्य मशीनरी बनाते हैं। यह मन को पूर्व-निर्धारित मार्गों पर निर्देशित करते हुए स्वतंत्र विचार का भ्रम पैदा करता है। लोगों को लगता है कि वे स्वतंत्र रूप से सोच रहे हैं, फिर भी उनकी अधिकांश राय आकार लेती हैं, सीमित होती हैं और फ़िल्टर की जाती हैं

बिजली बनाए रखने के लिए डिज़ाइन की गई प्रणालियाँ। परिणाम एक बौद्धिक पिंजरा है, अदृश्य लेकिन वास्तविक, जिसमें सीमाएँ स्वयं दुनिया के पूर्ण विस्तार के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। आर्थिक भय, सामाजिक दबाव और सूचना नियंत्रण का यह संयोजन यह सुनिश्चित करता है कि असहमति दुर्लभ बनी रहे और आज्ञाकारी अनुरूपता डिफ़ॉल्ट बन जाए, यहां तक कि उन समाजों में भी जो स्वतंत्रता और स्वतंत्र विचार पर गर्व करते हैं।

लोग अक्सर मानते हैं कि वे जो कुछ भी सोचते हैं वह उनका अपना होता है। हर विचार, हर निर्णय, हर सपना - मानो यह पूरी तरह से उनकी अपनी इच्छा से आया हो। लेकिन हकीकत में ज्यादातर लोग वही सोचते हैं जो उन्हें सोचना सिखाया गया है। और इन्हें सिखाने वाला कोई एक व्यक्ति नहीं है. यह एक संपूर्ण प्रणाली है. एक ऐसी व्यवस्था जो बहुत पुरानी, बहुत गहरी और बहुत चालाक है।

विचारों को नियंत्रित करना तलवार से नियंत्रित करने से अधिक शक्तिशाली है। क्योंकि यदि आप किसी को यह विश्वास दिला सकते हैं कि जो कुछ भी हो रहा है वह सही है, तो आपको उन्हें जेल में रखने के लिए दीवारों की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें हथकड़ी की जरूरत नहीं है. आपको छड़ी की जरूरत नहीं है. वे अपनी जेल स्वयं बनाते हैं। वे स्वयं इसके नियमों का पालन करते हैं और फिर यह मानने लगते हैं कि यह जेल वास्तव में आजादी है।

जब बच्चा पैदा होता है तो उसका दिमाग एक कोरे पन्ने की तरह होता है। और इस पेज पर लिखने का सिलसिला तुरंत शुरू हो जाता है. परिवार, स्कूल, टेलीविज़न, धर्म, भाषा, देशभक्ति, समाज, पड़ोसी, किताबें, शिक्षक, परीक्षाएँ, विज्ञापन - ये सब धीरे -

धीरे मन को एक प्रारूप में आकार देते हैं। ये फॉर्मेट ऐसा है जो सिस्टम के अनुकूल है . एक ऐसा प्रारूप जहां कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता , केवल उत्तर दिए जाते हैं। जहां लोगों को चीजों को बदलने के लिए नहीं , बल्कि उनका पालन करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि हमें स्वतंत्रता है -सोचने की , बोलने की , कार्य करने की स्वतंत्रता। लेकिन ध्यान से सोचो . क्या दिमाग सचमुच वही सोचता है जो वह सोचना चाहता है अधिकांश समय , जो हमें पसंद होता है वह हमें पहले ही किसी विज्ञापन में दिखाया जा चुका होता है। जो सपने हम देखते हैं वो पहले से ही कहीं न कहीं रोपे हुए होते हैं। करियर से लेकर शादी तक , धर्म से लेकर ...

राष्ट्र -राय पहले से ही बनी हुई हैं, और ऐसा लगता है जैसे हमने उन्हें स्वयं बनाया है।

यह विचारों का यह घेराव इतनी चतुराई से किया गया है कि एक व्यक्ति विश्वास करता है कि वह स्वतंत्र है। लेकिन सच में, उनकी स्वतंत्रता एक भ्रांति बन गई है। जिसे देशभक्ति सिखाई गई है, वह कभी यह नहीं पूछता कि जो उसे सिखाया गया वह वास्तव में सच है या नहीं। जिसे धार्मिक ग्रंथों को याद करने के लिए मजबूर किया गया है, वह कभी नहीं पूछता कि जो लिखा गया है, वह सवाल करने के लिए क्यों परे है। जिसे करियर के नाम पर इंजीनियर या डॉक्टर बनने के लिए कहा गया है, वह कभी नहीं पूछता कि क्या यह जीवन में केवल एक ही रास्ता है।

वास्तव में, सवाल उठाना स्वतंत्रता का पहला रूप है। लेकिन सिस्टम ने सोच को इस हद तक मोड़ दिया है कि जो सवाल पूछता है उसे गद्दार करार दिया जाता है। और जो सवाल नहीं पूछता उसे आदर्श नागरिक, सच्चा भक्त, अच्छा बच्चा और सफल व्यक्ति माना जाता है।

तो सवाल यह है: इस सोच को कौन नियंत्रित करता है? जवाब सरल है—जो लोग सत्ता में हैं।

उदाहरण के लिए, यदि कोई धर्म पर सवाल उठाता है, तो उसे पापी, भगवानहीन, नास्तिक कहा जाता है। यदि कोई राष्ट्रीय नीतियों पर सवाल उठाता है, तो उसे देशद्रोही कहा जाता है। यदि कोई विवाह, लिंग, शरीर, या जीवन की संरचना के बारे में बात करता है, तो उसे खोया हुआ, असंस्कृत, या अमोरल करार दिया जाता है। मतलब—जो भी सोच की सीमाओं से बाहर निकलता है, उसे समाज द्वारा काट दिया जाता है। और यह डर ही है जो सोच को सीमाओं के भीतर कैद रखता है।

और विचारों के सबसे बड़े व्यापारी वे हैं जो तय करते हैं कि लोगों को क्या देखना चाहिए, सुनना

चाहिए , पढ़ना चाहिए और याद रखना चाहिए। इतिहास की किताबों से लेकर समाचार चैनलों , फिल्मों से लेकर सोशल मीडिया ट्रेंड्स तक —सब कुछ तय किया जाता है। कुछ चीजें दिखानी होती हैं। कुछ चीजें छिपानी होती हैं। और कुछ चीजें इतनी बार दोहराई जानी चाहिए कि वे सच लगने लगें।

शक्तिशाली केवल समाचार नहीं चलाते। वे विचार को चलाते हैं। और विचार को नियंत्रित करना मतलब एक व्यक्ति के पूरे जीवन को अपने

जेब में रखना। जब एक पूरी पीढ़ी यह मानने लगती है कि पैसा ही सफलता है, तो वे इसे कमाने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार होते हैं। जब एक समाज यह मानने लगता है कि गोरा रंग ही सुंदरता है, तो लोग इसे अंधाधुंध पीछा करते हैं। जब एक राष्ट्र के लोग यह मानने लगते हैं कि असहमति देशद्रोह है, तो फिर बदलाव की कोई उम्मीद नहीं बचती।

विचारों का यह व्यापार केवल मन तक सीमित नहीं रहता। यह आत्मा को भी बेचता है। धीरे-धीरे, एक व्यक्ति यह भी नहीं समझता कि उनका मन अब उनका नहीं रहा। वे हंसते हैं, वे डरते हैं, वे खुश होते हैं, वे गुस्सा होते हैं—लेकिन इसके पीछे, वे नियंत्रण में नहीं होते। वे केवल प्रतिक्रिया करते हैं। जैसे कोई बटन दबा रहा हो, और वे उन बटनों पर नाच रहे हों।

जिस दिन कोई यह समझता है कि उनके मन में जो चल रहा है वह वास्तव में उनका अपना नहीं है—उस दिन असली सोच शुरू होती है। अन्यथा, पूरी जिंदगी किसी और की योजना के अनुसार जी जाती है, जबकि ऐसा लगता है कि सब कुछ अपनी पसंद से किया गया है। सच में, एक इंसान सबसे अधिक गुलाम होता है जब वह मानता है कि वह स्वतंत्र है। और ये विचारों की अदृश्य जंजीरें सबसे खतरनाक होती हैं।

क्या आपने कभी सोचा है कि आप जो कपड़े पहनते हैं, जो फोन खरीदते हैं, जूते, परफ्यूम, कारें, या हेयरस्टाइल—क्या वे वास्तव में आपके लिए हैं, या केवल दिखावे के लिए? ज्यादातर समय ऐसा लगता है कि निर्णय हमारे अपने हैं। लेकिन सच यह है कि जो हमें पसंद है वह पहले से कहीं और तय किया जा चुका है। हमारे विकल्पों की ओर ले जाने वाला विचार का मार्ग दूसरों द्वारा डिज़ाइन किया गया है। और यह सब बहुत चतुराई से होता है—बिना हमें महसूस कराए, बिना बल

के।

एक बहुत साधारण उदाहरण लें : कोई ₹3000 की टी -शर्ट पहनता है। कपड़ा वही है जो ₹300 की टी -शर्ट का है। लेकिन लोगो , ब्रांड , और सामाजिक मूल्य ने इसे “सम्मान ” का एक टुकड़ा बना दिया है। अब यह केवल कपड़ा नहीं रह गया है। यह एक स्थिति बन गया है। और यह “सम्मान ,” जिसे लोग अर्जित मानते हैं , धीरे -धीरे खरीदने के लिए बदलने लगता है —ब्रांड , शैलियों , और प्रदर्शनों के माध्यम से। वास्तव में , यह खेल सम्मान के बारे में नहीं है। यह डर के बारे में है।

डर कि लोग शायद

हमें कम आंकें। मजाक बनने का डर। डर कि कोई कह सकता है —उसका फोन पुराना है, उसके जूते सस्ते हैं, वह बस साधारण है।

बहुत अमीरों के लिए, ये चीजें रोज़मर्रा के मामले हैं। नया फोन खरीदना चाय पीने से अलग नहीं है। बहुत गरीबों के लिए, यह स्पष्ट है कि वे ऐसी चीजें खरीद नहीं सकते —चाहने और पाने के बीच की दूरी बहुत विशाल है, इसलिए वे प्रदर्शन के खेल में भी नहीं आते। यह मध्यवर्ग है जो फंस जाता है। वे सब कुछ चाहते हैं। लेकिन हर चीज के लिए एक कीमत चुकानी होती है। और यह कीमत केवल पैसे की नहीं होती। यह आत्म-सम्मान, वास्तविक जरूरतों का बलिदान, और सबसे बढ़कर —अपनी पहचान को भूलना भी है।

लोग सोचते हैं कि जो चीजें वे खरीदते हैं, वे खुशी लाती हैं। लेकिन वास्तव में, ये चीजें केवल एक नया लक्ष्य बनाती हैं। जैसे ही आप एक ब्रांडेड घड़ी खरीदते हैं, एक और ब्रांड आपकी आंखों के सामने आ जाता है। जैसे ही आप एक कार लेते हैं, एक और मॉडल आपके दृष्टिकोण में धकेल दिया जाता है। राहत की सांस लेने से पहले, एक नया सपना बोया जाता है। और यह बाहरी चीजों तक सीमित नहीं है। यहां तक कि शरीर, त्वचा का रंग, बोलने का तरीका, चलने की शैली —सब कुछ questioned किया जाता है। और इन सवालों से बचने के लिए, लोग खुद को उस रूप में ढालने लगते हैं जो दुनिया चाहती है।

जिम जाने वालों से पूछें —क्या वे वास्तव में फिट रहने के लिए जाते हैं, या सिर्फ दूसरों को दिखाने के लिए? अगर कोई नहीं देख रहा होता, तो क्या वे इतनी मेहनत करते? आज की समस्या यह है कि अब कुछ भी अपने लिए नहीं किया जाता। सब कुछ सामाजिक मूल्य के लिए किया जाता है। और जो लोग यह सब बनाते हैं —

ब्रांड, विज्ञापन, मार्केटिंग कंपनियां—वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि डर और दिखावे का बाजार कितना बड़ा है। हर कोई केवल सोच रहा है: दूसरे क्या सोचेंगे? और यही विचार जीवन की सबसे बड़ी जेल बन जाता है।

एक व्यक्ति को EMI पर फोन खरीदते हुए सोचें। 24 महीनों के लिए किस्तें चुकाना सिर्फ इसलिए ताकि वे दूसरों के सामने शर्मिंदा न हों। लेकिन सोचिए—अगर कोई नहीं देख रहा होता, कोई नहीं

जज कर रहा होता —क्या वह फोन वास्तव में आवश्यक होता ? यह प्रणाली उस खतरनाक विचार पर जीवित रहती है कि मनुष्यों को भीतर से खोखला किया जाना चाहिए ताकि वे अपनी पहचान बाहरी चीजों में खोजें। जितना अधिक एक व्यक्ति खरीदता है, उतना ही उसे लगता है कि वह “कुछ बन गया है।” लेकिन गहराई में, केवल एक नया डर बढ़ता है: अगला क्या?

हर बार, कुछ नया खरीदना आवश्यक है। कुछ नया दिखाना आवश्यक है। अन्यथा, “लोग क्या कहेंगे?” का डर creeping in होता है। और यह सब इतनी सहजता से होता है कि कोई भी यह संदेह नहीं करता कि यह वास्तव में एक जाल है। सम्मान अब अर्जित नहीं किया जाता —यह बाजार में खरीदा जाता है। और बाजार जानता है कि सम्मान की भूख सभी भूखों में सबसे तेज है।

सोशल मीडिया के साथ, यह जाल केवल मजबूत हुआ है। अब हर फोटो, हर कहानी, हर पोस्ट एक नई तुलना को जन्म देती है, और लोग यह मानने लगते हैं कि दिखावा ही सब कुछ है। असली सवाल यह नहीं है कि यह सही है या गलत। असली सवाल यह है —क्या ये चुनाव वास्तव में आपके हैं, या बस दूसरों की नजरों से खुद को देखने की आदत है? जब तक यह समझा नहीं जाता, एक व्यक्ति एक अदृश्य दौड़ में भागता रहता है। एक दौड़ जिसमें न कोई फिनिश लाइन है, न कोई विजय —बस खुद को साबित करने की कोशिश की थकान।

और इसलिए, इस खेल का पहला सत्य सरल है: सम्मान अब बिक्री के लिए है। और जो इसे खरीदने की कोशिश कर रहे हैं, वे हर एक दिन कुछ और बेच रहे हैं —अपना समय, अपना पैसा, और सबसे बढ़कर, खुद को।

हर इंसान के भीतर एक सपना होता है। कोई “बड़ा” बनना चाहता है, कोई बस खुश रहना चाहता है, कोई प्यार चाहता है, कोई सम्मान चाहता है। और यही सपने हैं जो

कैद कर लिए गए हैं और एक पूरे बाजार में बदल दिए गए हैं। एक ऐसा बाजार जो सब कुछ बेचता है जिसकी इंसानों को वास्तव में जरूरत नहीं है —लेकिन उन्हें यह विश्वास दिलाता है कि इसके बिना , वे कुछ भी नहीं हैं। सच में , यह सपने नहीं हैं जो बेचे जा रहे हैं। यह डर है। असफलता का डर। डर

अकेले रहना। पीछे छूट जाने का डर। दूसरों से कम समझे जाने का डर।

पहले, यह डर आपके मन में बोया जाता है। और फिर, उस डर का इलाज आपको बाजार में वापस बेचा जाता है। इस पर विचार करें। स्कूल से लेकर सोशल मीडिया तक, आपको बताया जाता है कि अगर आप पहले नहीं आते हैं, तो आपकी जिंदगी बर्बाद हो जाएगी। अगर आपकी त्वचा का रंग गोरा नहीं है, तो कोई भी आपको पसंद नहीं करेगा। अगर आप ब्रांडेड कपड़े नहीं पहनते हैं, तो कोई भी आपका सम्मान नहीं करेगा। अगर आप महंगी कार नहीं चलाते हैं, तो लोग आपको गंभीरता से नहीं लेंगे। फिर क्या होता है? ये सभी संदेश एकत्रित होते हैं और आपको डर से भर देते हैं। और फिर वही कंपनियाँ जो डर पैदा करती हैं, उसका इलाज करने का वादा करती हैं। यह ऐसा है जैसे वे पहले आपको ज़हर देते हैं—और फिर आपको प्रतिजीव (एंटी-डोट) बेचते हैं। यही असली व्यवसाय है।

एक साधारण उदाहरण लें: fairness क्रीम। पहले, आपको इस विचार से बमबारी की जाती है कि गोरी त्वचा सुंदरता है। हर विज्ञापन, हर फिल्म, हर विवाह साइट इसे दोहराती है। फिर, जब आप अपने आप से असंतुष्ट हो जाते हैं, तो बाजार कहता है—हमारे पास समाधान है। और वह समाधान एक ₹300 की ट्यूब में बेचा जाता है। अब, असली सवाल: अगर समाज ने कभी नहीं कहा कि गोरी त्वचा आवश्यक है, तो क्या कोई उस क्रीम को छूता? यही हर सपने के साथ होता है। एक सपना आपके बिना सहमति के आपके अंदर बोया जाता है। एक बार जब यह आपके अंदर बैठ जाता है, तो आप इसे पाने के लिए अपना समय, प्रयास और पैसा फेंक देते हैं।

शक्तिशाली बहुत अच्छे से जानते हैं कि मनुष्यों को नियंत्रित करने के लिए केवल दो चीजें आवश्यक

हैं : डर और लालच। डर दिखाओ, फिर उससे बचने का सपना बेचो। और जब एक व्यक्ति उस सपने में फंस जाता है, तो वे यह भी नहीं समझ पाते कि क्या हुआ है।

गहराई में जाएं: शिक्षा प्रणाली को लें। हर माता-पिता चाहता है कि उनका बच्चा सफल हो। लेकिन सफलता की परिभाषा किसने दी? वही प्रणाली जिसने पहले असफलता का डर पैदा किया। अब, जब हर बच्चा डर के साए में पढ़ाई करता है, कोचिंग सेंटर, करियर गाइड,

प्रेरणादायक सेमिनार —सब कुछ उस डर के लिए "उपचार" बेचना शुरू करता है।

सोशल मीडिया के लिए भी यही बात लागू होती है। हर कोई खुश, अमीर, सुंदर, और परिपूर्ण दिखता है। लेकिन साधारण व्यक्ति, जो जीवन में संघर्ष कर रहा है, उसे यह महसूस होने लगता है कि उनके साथ कुछ गलत है। जबकि वास्तव में, जो वे देख रहे हैं वह एक भ्रांति है — फिल्टर, संपादन, योजना, झूठ। फिर भी, वे इसे मानते हैं, और उसी भ्रांति का पीछा करना शुरू कर देते हैं। इंस्टाग्राम एक सपना बेचता है, और इसके पीछे एक अरब डॉलर का उद्योग चलता है।

बाजार ने मानव भावनाओं को उनके मूल में कैद कर लिया है —प्रेम, सम्मान, सुरक्षा, पहचान। फिर इसे इस तरह मोड़ता है कि लोग विश्वास करने लगते हैं: यदि आप ये चाहते हैं, तो आपको कुछ खरीदना होगा। सम्मान चाहिए? एक नया लेटेस्ट आईफोन खरीदें। प्रेम चाहिए? महंगा परफ्यूम लगाएं। पहचान चाहिए? ब्रांडेड कपड़े पहनें। लेकिन क्या ये चीजें वास्तव में आवश्यक हैं? नहीं। फिर भी डर और तुलना ने आपको यह विश्वास दिला दिया है कि इनके बिना, आप अधूरे हैं।

इस पूरे सिस्टम का सबसे खतरनाक हिस्सा यह है कि इंसानों को कभी भी रुकने और पूछने का मौका नहीं मिलता: क्या यह वास्तव में मेरा सपना है, या यह किसी और का है? क्योंकि अगर वे एक बार भी इस तरह से सोचने के लिए रुकते हैं, तो पूरा बाजार गिर सकता है। यही कारण है कि आपको हमेशा दौड़ते रहना पड़ता है। जैसे ही एक सपना पूरा होता है, दूसरा आपको सौंप दिया जाता है। अपने लिए एक घर खरीदें। अपने बच्चों के लिए बीमा खरीदें। बुढ़ापे के लिए म्यूचुअल फंड खरीदें। और इस तरह, एक पूरी जिंदगी बिताई जाती है —न अपने सपने को जीने में, बल्कि किसी और के सपने के पीछे

दौड़ने में।

और अंत में, जब एक व्यक्ति थका हुआ बैठता है, तो वह समझता है: शायद उसने कभी अपने सपने को नहीं देखा। उसने केवल दूसरों के सपनों को जीया, एक के बाद एक। सच यह है कि विक्रेता कभी नहीं चाहता कि इंसान संतुष्ट हों। क्योंकि अगर एक दिन लोग कहते हैं, मुझे और कुछ नहीं चाहिए, तो पूरा बाजार बंद हो जाएगा। यही कारण है कि डर को हमेशा जीवित रखना चाहिए। जब तक डर मौजूद है,

सपनों की दुकान चलती रहेगी। और यह दुकान, हालांकि बाहर से रंगीन लगती है, अंदर से खोखली है।

बचपन से, हर बच्चे को इस विश्वास के साथ स्कूल भेजा जाता है कि उन्हें वहां शिक्षा मिलेगी। लेकिन वास्तव में, जो होता है वह शिक्षा नहीं है—यह एक प्रकार का फॉर्मेटिंग है। मस्तिष्क को एक कंप्यूटर की तरह सेट किया जाता है ताकि व्यक्ति एक ऐसे सिस्टम का हिस्सा बन सके जो पहले से निर्धारित है। लक्ष्य यह नहीं है कि कोई ऐसा व्यक्ति बनाया जाए जो सवाल करे, बल्कि ऐसा व्यक्ति बनाया जाए जो आज्ञा का पालन करे।

स्कूल एक ऐसा स्थान है जहाँ विचार की स्वतंत्रता नहीं दी जाती। कुछ भी वास्तव में नहीं सिखाया जाता—चीजें याद की जाती हैं। कितनी बार ऐसा हुआ है कि एक बच्चा नया सवाल पूछता है, और शिक्षक परेशान हो जाते हैं, उसे डांटते हैं, चुप कराते हैं? क्यों? क्योंकि स्कूल सवाल पूछने वालों को नहीं चाहते। वे ऐसे लोगों को चाहते हैं जो अपने दिमाग का उपयोग किए बिना एक निश्चित पाठ्यक्रम को दोहरा सकें।

अब सोचिए—यह पाठ्यक्रम किसने बनाया? क्या आम लोगों ने बैठकर तय किया कि बच्चों को क्या सीखना चाहिए? नहीं। यह उन लोगों द्वारा तय किया जाता है जो सत्ता में हैं, और उनकी पहली आवश्यकता यह है कि लोग विचारक न बनें—बस सिस्टम के हिस्से बनें।

स्कूल कभी भी यह छोटी सी बात नहीं सिखाते कि असली दुनिया कैसे काम करती है। इसमें कर, बैंकिंग, या वास्तविकता की जांच के बारे में कुछ नहीं है। इसके बजाय, वे पाइथागोरस के प्रमेय को सिखाते हैं, लेकिन यह नहीं सिखाते कि ईएमआई कैसे काम करती है। ताकि जब बच्चा बड़ा हो, तो वह वही गलतियाँ दोहराए जो उसके माता-पिता ने कीं—कर्ज में गिरना, सिस्टम का पालन

करना , कभी यह सवाल न करना कि जो वे कर रहे हैं वह वास्तव में आवश्यक है या नहीं।

एक कक्षा में , सभी को एक जैसा बनाया जाता है। एक जैसे यूनिफॉर्म , एक जैसे उत्तर , एक जैसा सोचने का तरीका। जो थोड़े अलग होते हैं उन्हें कमजोर , बैकबेंचर कहा जाता है। और अगर कोई बहुत अलग होता है , तो उसे समस्याग्रस्त करार दिया जाता है। वास्तव में , यह सब फॉर्मेटिंग है —एक मानव को मानव के रूप में नहीं , बल्कि एक मशीन के रूप में व्यवहार करना।

इसे एक कन्वेयर बेल्ट के रूप में सोचें जहाँ हर बच्चे को लाइन में रखा जाता है , और हर स्तर पर उनके दिमाग को काटा और आकार दिया जाता है।

डरपोक वाला आदर्श छात्र बन जाता है। विद्रोही rude बन जाता है। जो सवाल पूछता है उसे भ्रमित कहा जाता है। और जो चुपचाप सब कुछ स्वीकार करता है उसे सफल कहा जाता है।

इसका सबसे गहरा प्रभाव तब दिखता है जब बच्चा बड़ा होता है और काम करने लगता है। वही चक्र जारी रहता है —जो बॉस कहता है उसे करो, नियमों का पालन करो, और सबसे महत्वपूर्ण, सिस्टम पर कभी सवाल मत करो। यही कारण है कि अधिकांश लोग श्रमिक बन जाते हैं, विचारक नहीं। और जो कुछ लोग सोचने की हिम्मत करते हैं, वे या तो अकेले रह जाते हैं या सिस्टम उन्हें काट देता है।

अब चलिए इस फॉर्मेटिंग के असली ट्रिक के बारे में बात करते हैं —वह ट्रिक जो एक व्यक्ति को उनके असली आत्म से अलग करती है। जब एक बच्चे को लगातार कहा जाता है, "तुम्हें टॉपर बनना है, तुम्हें डॉक्टर बनना है, तुम्हें अंक प्राप्त करने हैं," तो उनका दिमाग एक लक्ष्य मशीन बन जाता है। उन्हें कभी भी अपने भीतर देखने और पूछने का मौका नहीं मिलता: मैं क्या बनना चाहता हूँ? मैं क्या सोचता हूँ? मेरी रुचि कहाँ है?

इस तरह, एक पूरी पीढ़ी बनाई जाती है —एक जो डिग्रियाँ रखती है लेकिन स्वतंत्र विचार नहीं। वे रिज़्यूमे बना सकते हैं लेकिन सवाल नहीं पूछ सकते। और जब यह पीढ़ी कार्यबल में शामिल होती है, तो यह अगली पीढ़ी का वही प्रकार का उत्पादन करती है।

अब कल्पना करें —क्या होगा अगर स्कूल वास्तव में बच्चों को अपने लिए सोचने के लिए सिखाते? जो वे देखते हैं उस पर सवाल उठाने के लिए? जो हर कोई कहता है उस पर अंधा विश्वास न करने के लिए? तब क्या होगा? प्रणाली टूट जाएगी। मनुष्य अब दास नहीं रहेंगे। वे

केवल नौकरियों के लिए नहीं जीएंगे —वे वास्तव में जीएंगे।

लेकिन यह ठीक वही है जो सिस्टम के नियंत्रण में रहने वाले लोग नहीं चाहते। यही कारण है कि स्कूलों को केवल पढ़ाई और लेखन सिखाने के लिए डिज़ाइन किया गया है , लेकिन सोचने के लिए नहीं। स्कूल ऐसे कारखाने हैं जहाँ "मानव संसाधन " का उत्पादन होता है , न कि इंसान।

और इस प्रारूपण का सबसे चालाक हिस्सा यह है कि एक व्यक्ति को यह भी एहसास नहीं होने दिया जाता कि उनके साथ कुछ गलत हुआ है।

वे मानते हैं कि सब कुछ ठीक है। "यह जीवन है। हर कोई इस तरह जीता है।" लेकिन सच्चाई यह है कि, उनकी सोच इतने वर्षों में इस तरह मोड़ दी गई है कि सवाल उठाना खुद गलत लगने लगता है।

वे जो कुछ भी कर रहे हैं—यह वास्तव में उनका अपना चुनाव नहीं है। वे केवल वही कर रहे हैं जो उन्हें सिखाया गया है। और इस "शिक्षण" को शिक्षा का नाम दिया गया है, जबकि वास्तव में यह केवल प्रारूपण है—सोच को बंद करना, स्वतंत्रता चुराना, और इंसानों को गुलाम रखना।

और एक बार जब एक व्यक्ति अपनी सोच पर भरोसा करना बंद कर देता है, तो फिर कोई भी उन पर जैसे चाहे शासन कर सकता है।

एक मानव के सबसे गहरे जरूरतें पहचान, संबंध, और विश्वास हैं। और यही तीन चीजें सबसे अधिक शोषित होती हैं—धर्म और देशभक्ति के माध्यम से। ये दो सबसे शक्तिशाली भावनाएँ हैं जो हर युग में लोगों को नियंत्रित करने के लिए उपयोग की गई हैं। सबसे चौंकाने वाली बात यह है: जब ये शक्तियाँ उपयोग की जाती हैं, तो लोग ऐसा महसूस करते हैं जैसे वे खुद सोच रहे हैं, जबकि वास्तव में उनकी सोच पहले से ही स्क्रिप्टेड होती है।

भक्ति अब एक व्यक्तिगत अभ्यास नहीं रह गई है—यह एक प्रदर्शन बन गई है। लाउडस्पीकर पर गूंजते भजन, सोशल मीडिया पर वायरल होते लाइवस्ट्रीम अनुष्ठान, हर सड़क कोने पर झंडे—यह सब एक धार्मिक मंच शो का हिस्सा है। यहाँ जो महत्वपूर्ण है वह विश्वास नहीं है, बल्कि यह है कि कोई अपनी धार्मिकता को कितना प्रदर्शित कर सकता है। ध्यान दें कि इस शो में सबसे अधिक शोर कौन मचाता है—कौन सबसे बड़े प्रतीक ले जाता है, कौन सबसे जोर से चिल्लाता है, कौन दूसरों

की सबसे अधिक निंदा करता है। और क्यों? भीड़ के लिए, ताली के लिए, लाइक्स के लिए, वोटों के लिए। लेकिन सोचिए: क्या सच्चे विश्वास को चिल्लाकर साबित करने की आवश्यकता है? क्या इसे प्रचार की आवश्यकता है?

अब चलिए देशभक्ति पर ध्यान देते हैं। देशभक्ति एक ऐसा भावना होना चाहिए जहाँ कोई अपने देश के लिए कुछ अर्थपूर्ण करता है। लेकिन आज इसे किस चीज़ में घटित किया गया है? अपने प्रोफ़ाइल चित्र पर एक झंडा लगाना। हर मुद्दे पर चिल्लाना कि कोई "विरोधी-राष्ट्रीय" है।

कभी भी सवाल नहीं पूछना —अन्यथा आपको देशद्रोही कहा जाएगा। मतलब : जो भी सिस्टम में खामियों की ओर इशारा करता है, उसे राष्ट्र का दुश्मन करार दिया जाता है। भ्रष्टाचार के खिलाफ बोलें —देशद्रोही। बेरोजगारी पर सवाल उठाएँ —देशद्रोही। न्याय प्रणाली की आलोचना करें —देशद्रोही। और देशभक्ति क्या है और क्या नहीं, यह कौन तय करता है? सत्ता में लोग —वे जो चाहते हैं कि आम लोग राष्ट्रीयता के मुखौटे के पीछे चुप रहें।

जब भी कोई बड़ा स्कैंडल उजागर होता है, उसके तुरंत बाद कोई धार्मिक मुद्दा उठाया जाता है। जब भी सरकारें विफल होती हैं, अचानक एक राष्ट्रीय सम्मान का मुद्दा उठाया जाता है। क्योंकि वे जानते हैं —जब लोग गुस्से में होते हैं या धार्मिक उन्माद में फंसे होते हैं, तो वे वास्तविक मुद्दों जैसे महंगाई, बेरोजगारी, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा को भूल जाते हैं। तब आपके सामने एक मुखौटा रखा जाता है —धर्म और देशभक्ति का मुखौटा। इस मुखौटे के पीछे वे लोग छिपे होते हैं जो आपके सवालों से डरते हैं। और इस मुखौटे को पहनकर, आप अपनी ही आवाज़ को चुप कर देते हैं, यह मानते हुए कि आप सही काम कर रहे हैं।

सबसे दर्दनाक हिस्सा यह है कि इस खेल में मध्यवर्ग का सबसे अधिक शोषण होता है। क्योंकि वे सबसे अधिक भावुक होते हैं। वे अपने बच्चों की स्कूल फीस, अपनी नौकरियों, अपने माता-पिता की दवाओं के बीच फंसे होते हैं।

बस हर टीवी बहस, हर सोशल मीडिया ट्रेंड, हर राजनीतिक भाषण को देखें। क्या वे सभी आपके विचारों को मार्गदर्शित नहीं कर रहे हैं? क्या आपकी चिंताएँ, आपके विश्वास, आपकी पहचान किसी और द्वारा आकारित नहीं की जा रही हैं? पूरा शो एक ही उद्देश्य

के लिए चलता है: आपको सोचने से रोकना। आपको यह विश्वास दिलाना कि जो आपको बताया जा रहा है, वही सच है। जो कुछ भी दिखाया जा रहा है, उसे सच के रूप में स्वीकार करना। ताकि आप वही गलतियाँ दोहराते रहें।

कभी भी सिस्टम को दोष न दें—हमेशा किसी बाहरी दुश्मन, किसी "धर्मत्यागी" या "गद्दार" को दोष दें।

आधुनिक जीवन थकाऊ है। नौकरियाँ, ट्रैफिक, रिश्ते, पैसे का दबाव—सब कुछ भारी होता है। और जब लोग अंततः थोड़ी राहत पाते हैं, तो वे उसी पर टिक जाते हैं। सबसे आसान राहत मनोरंजन है।

एक आदमी पूरा दिन अपने बॉस द्वारा डांटे जाने, ट्रैफिक में फंसे रहने, दिनचर्या से घुटन महसूस करने में बिताता है। फिर भी वह चुप रहता है—क्यों? क्योंकि उसे पता है कि रात में, उसका मोबाइल, उसका टीवी, उसकी वेब सीरीज, उसका क्रिकेट मैच, या उसके इंस्टाग्राम रील्स उसका इंतज़ार कर रहे हैं।

मनोरंजन अब एक शौक नहीं रहा; इसे एक आवश्यकता में बदल दिया गया है। और जब कुछ एक आवश्यकता बन जाता है, तो इसका मतलब है कि यह पहले से ही आपके ऊपर शासन करता है।

लेकिन यह मनोरंजन आपको क्या देता है?

फिल्में जहाँ नायक कभी हारता नहीं और दुनिया तीन घंटे में बदल जाती है। टीवी शो जो या तो डर बेचते हैं या नकली प्यार। सोशल मीडिया जहाँ हर कोई दिखावा करता है कि जीवन परफेक्ट है—सिवाय आपके। क्रिकेट और रियलिटी शो जो असली मुद्दों से ध्यान हटाने और एक स्क्रिप्ट के लिए ताली बजाने के लिए डिज़ाइन किए गए हैं। सवाल यह नहीं है कि क्या मनोरंजन बुरा है। असली सवाल यह है: क्या यह आपकी सोचने की क्षमता को मार रहा है?

द मिरर के बाद

इन अध्यायों में जांचे गए ढांचे —कानून , शिक्षा , काम, राज्य , अर्थव्यवस्था , नैतिकता —हर रोज़ की ज़िंदगी से दूर नहीं हैं। वे दैनिक निर्णयों , आदतों , चिंताओं और आकांक्षाओं में निहित हैं। आज्ञाकारिता एक अलग कार्य नहीं है जो समर्पण के क्षणों में किया जाता है ; यह एक ऐसा वातावरण है जिसमें आधुनिक जीवन unfolds होता है। इसी निकटता के कारण, इसे अक्सर पहचानना सबसे कठिन होता है।

इस काम का उद्देश्य यह नहीं है कि मानव पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं हैं , न ही यह दावा करना कि पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। ऐसे द्वंद्व —स्वतंत्र बनाम अस्वतंत्र —एक वास्तविकता को अत्यधिक सरल बनाते हैं जो कहीं अधिक जटिल है। इसके बजाय यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वतंत्रता , जहाँ भी मौजूद है , उन परिस्थितियों के भीतर कार्य करती है जो मुख्य रूप से विरासत में मिली होती हैं न कि चुनी गई। ये परिस्थितियाँ उस सीमा को आकार देती हैं जो संभव , उचित , और अनुमेय प्रतीत होती है , इससे पहले कि सचेत निर्णय लेने की प्रक्रिया शुरू हो।

आज्ञाकारिता का सबसे प्रभावी रूप सीधे आदेश के माध्यम से नहीं लगाया जाता है। यह दृश्य प्राधिकरण या स्पष्ट धमकी के माध्यम से स्वयं को घोषित नहीं करता है। यह तब उभरता है जब नियमों को आंतरिक रूप से अपनाया जाता है —जब व्यक्ति उन मानदंडों के अनुसार अपने आप को नियंत्रित करना सीखते हैं जिन्हें उन्होंने स्वयं नहीं बनाया। इस चरण में , आज्ञाकारिता को लागू करने की आवश्यकता नहीं होती। यह आदत, अपेक्षा , और कल्पना की स्वयं की शांत

अनुशासन के माध्यम से बनाए रखा जाता है। जो "वास्तविक " माना जाता है , वह उस चीज़ को प्रतिस्थापित करता है जो अन्यथा विचारणीय हो सकता था।

इस बिंदु पर, आज्ञाकारिता अब बिल्कुल भी आज्ञाकारिता की तरह महसूस नहीं होती।

यह पुस्तक जागरण का कोई वादा नहीं करती, न ही यह सुझाव देती है कि जागरूकता मुक्ति उत्पन्न करती है। पहचान टूटन नहीं है। किसी के जीवन को आकार देने वाली संरचनाओं को देखना उन्हें समाप्त नहीं करता। अधिकांश व्यक्ति समान प्रणालियों के भीतर जीते रहेंगे, अक्सर आवश्यकता से, कभी-कभी अनुकूलन द्वारा, और कभी-कभी विकल्प के भ्रम के माध्यम से। यह विरोधाभास व्यक्तिगत विफलता नहीं है; यह आधुनिक अस्तित्व की एक परिभाषित स्थिति है।

इस कारण से, 'आज्ञाकारी हम' कोई निकासी रणनीति प्रदान नहीं करता।

इतिहास बार-बार दिखाता है कि अंतिम समाधानों को लागू करने के प्रयास अक्सर नए प्रभुत्व के प्रणालियों को उत्पन्न करते हैं। यहां तक कि प्रतिरोध, जब सिद्धांत में परिवर्तित होता है, तो यह पदानुक्रम को पुन: उत्पन्न करने और अपनी आज्ञाकारिता की मांग करने की प्रवृत्ति रखता है। निश्चितता, चाहे इरादा कुछ भी हो, अक्सर प्राधिकरण के सबसे विश्वसनीय उपकरणों में से एक साबित हुई है। इसलिए, यह पुस्तक एक ढांचे को दूसरे से बदलने से इनकार करती है।

इसका कार्य अधिक सीमित—और अधिक सटीक रहा है। इसने उस चीज़ को दृश्य बनाने का प्रयास किया है जो सामान्यतः स्वाभाविक के रूप में प्रस्तुत होती है।

जहां अनिवार्यता मानी जाती है, वहां आकस्मिकता को प्रकट करना। जहां सामान्य ज्ञान तटस्थता का दावा करता है, वहां संरचना को उजागर करना। इस उजागर के बाद क्या होता है, इसे यहां निर्धारित नहीं किया जा सकता।

कुछ पाठकों के लिए, प्रस्तुत तर्क बौद्धिक जुड़ाव के स्तर पर रह सकते हैं—सहमति, असहमति, या

आलोचना के वस्तुएं। दूसरों के लिए , वे एक निरंतर असुविधा उत्पन्न कर सकते हैं , एक ऐसी बेचैनी जो आसान समाधान का विरोध करती है। कुछ के लिए , यह असुविधा भाषा , अपेक्षा , या धारणा में सूक्ष्म बदलाव शुरू कर सकती है। इनमें से कोई भी प्रतिक्रिया निर्धारित नहीं की गई है , और न ही कोई विशेषाधिकार प्राप्त है। पुस्तक परिवर्तन द्वारा सफलता को नहीं मापती , बल्कि स्पष्टता द्वारा मापती है।

इस पुस्तक के बाद का जीवन इसके केवल पूर्ण होने से नाटकीय रूप से परिवर्तित नहीं होगा। कार्य जारी रहेगा। अनुपालन बना रहेगा। समझौता अनिवार्य रहेगा। अन्यथा की अपेक्षा करना

संरचनात्मक शक्ति की प्रकृति को गलत समझना होगा। एक प्रणाली के भीतर अस्तित्व और उससे दूरी परस्पर अनन्य स्थितियाँ नहीं हैं। अधिक महत्वपूर्ण भेद कहीं और है : "क्या प्रणाली देखी जाती है या अदृश्य रहती है। "

देखना मुक्ति नहीं देता। लेकिन यह जिम्मेदारी को बदलता है।

एक बार जब संरचनाएँ पहचानी जाती हैं , तो तटस्थता बनाए रखना कठिन हो जाता है। क्रियाएँ —चाहे कितनी भी सीमित , विरोधाभासी , या प्रतिबंधित हों —अब संदर्भ की अनजानता में नहीं होतीं। वाक्यांश “यह बस ऐसे ही है ” अपनी मासूमियत खो देता है। एक बार नामित आज्ञाकारिता अब पूरी तरह से अपरिहार्यता के रूप में खुद को छिपा नहीं सकती।

यहाँ एक अलग प्रकार की जिम्मेदारी उभरती है। न तो कानून , नैतिकता , या विचारधारा द्वारा निर्धारित , बल्कि स्वयं जागरूकता से उत्पन्न। यह जिम्मेदारी क्रिया को निर्धारित नहीं करती , न ही मार्गदर्शन प्रदान करती है। यह केवल गायब होने से इनकार करती है।

यह पुस्तक जानबूझकर पाठक को यह नहीं बताती कि क्या करना चाहिए।

क्योंकि एक बार जब संरचनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं , तो अगला कदम सौंपा नहीं जा सकता। एक दर्पण पाठक के सामने रखा गया है।

ELEVEN FIFTY
PUBLISHING